सभी वस्तुओं में ईश्वर-बुद्धि करो,
समझो कि ईश्वर सब में है।

– स्वामी विवेकानन्द

विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष : २९ अंक २
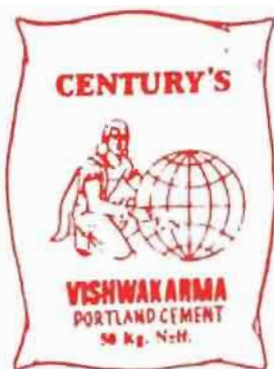
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल—मई—जून

* १९९१ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सह-सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी त्यागात्मानन्द

वार्षिक १०)

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाषा : २४५८९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर ४५२ ००९ (म.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २९] अप्रैल-मई-जून ★ १९९१ ★ [अंक २

परिवर्तनशील-जीवन

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि च सम्पूर्णविभवः।
जराजीर्णैरङ्गैर्नट इव वलीमण्डिततनु-
र्नरः संसारान्ते विशति यमधानीयवनिकाम् ॥

रंगमच पर अभिनेता के समान मनुष्य क्षण भर बालकपन में गुजारकर क्षण भर युवक के रूप में काम-रस का उपभोग करता है। कभी वह निर्धन रहता है तो कभी पूर्ण समृद्धि में डूबा रहता है। फिर बुढ़ापा आ जाने पर उसका सारा शरीर झुर्रियों से भर जाता है और तब वह परदे के पीछे स्थित यमराज के लोक की ओर प्रस्थान करता है।

—भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्' ५०

अग्नि-मंत्र

(मद्रासी शिष्यों को लिखित)

द्वारा जार्ज डब्ल्यू. हेल
५४१, डियरबोर्न एवेन्यू, शिकागो
२४ जनवरी १८९४

प्रिय मित्रो,

तुम्हारे पत्र मिले। मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि मेरे सम्बन्ध में इतनी अधिक बातें तुम लोगों तक पहुँच गयीं। 'इन्टीरियर' पत्रिका की आलोचना के बारे में तुम लोगों ने जो उल्लेख किया है, उसे अमेरिकी जनता का रुख न समझ बैठना। इस पत्रिका के बारे में यहाँ के लोगों को प्रायः कुछ नहीं मालूम और वे इसे 'शुद्धाचारवादी प्रेसबिटेरियनों' की पत्रिका कहते हैं। यह बहुत ही कट्टर सम्प्रदाय है। किन्तु ये 'शुद्धाचारवादी' सभी लोग दुर्जन हैं, ऐसी बात नहीं। अमेरिका के लोग एवं पादरियों में भी बहुत से लोग मेरा बहुत सम्मान करते हैं। लोग जिसे आसमान पर चढ़ा रहे हैं, उस पर कीचड़ उछालकर प्रसिद्धि लाभ करने के इरादे से ही इस पत्र ने ऐसा लिखा था। ऐसे छल को यहाँ के लोग खूब समझते हैं; एवं इसे यहाँ कोई महत्व नहीं देता, किन्तु भारत के पादरी अवश्य ही इस आलोचना का लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे। यदि वे ऐसा करें, तो उन्हें कहना—'हे यहूदी, याद रखो, ईश्वर का न्याय तुम पर घोषित हुआ है। उन लोगों की पुरानी इमारत की नींव भी ढह रही है; पागलों के समान उनके चीत्कार करते रहने के बावजूद उसका नाश अवश्यम्भावी है। उन पर मुझे दया आती है कि यहाँ प्राच्य धर्मों से समावेश के कारण भारत

में आराम से जीवन बिताने के उनके साधन कहीं क्षीण न हो जायँ। किन्तु इनके प्रधान पादरियों में से एक भी कभी मेरा विरोधी नहीं रहा। खैर, जब तालाब में उतरा हूँ तो अच्छी तरह से स्नान करूँगा ही।

उन लोगों के समक्ष हमारे धर्म का जो संक्षिप्त विवरण मैंने पढ़ा था, उसे एक समाचार पत्र से काटकर भेज रहा हूँ। मेरे अधिकांश भाषण बिना तैयारी के होते हैं। आशा है, इस देश से वापस जाने के पहले उन्हें पुस्तक का आकार दे सकूंगा। भारत से किसी प्रकार की सहायता की मुझे आवश्यकता नहीं, वह यहाँ मुझे प्रचुर मात्रा में प्राप्त है। तुम लोगों के पास जो धन है, उससे इस संक्षिप्त भाषण को छपवाकर प्रकाशित करो एवं प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद कराकर चारों तरफ इसका प्रचार करो। यह हमें जनमानस के सामने रखेगा। साथ ही एक केन्द्रीय महाविद्यालय स्थापित करने एवं उससे भारत के सभी दिशाओं में फैलने की हमारी योजनाओं को न भूलना। सहायता लाभ करने के लिए यहाँ मैं प्राणपण से प्रयत्न कर रहा हूँ, तुम लोग भी वहाँ प्रयत्न करो। खूब मेहनत से कार्य करो।...

जहाँ तक अमेरिकी महिलाओं का प्रश्न है, उनकी कृपा के लिए अपनी कृतज्ञता प्रकट करने में मैं असमर्थ हूँ। प्रभु उनका भला करें। इस देश के प्रत्येक आन्दोलन की जान महिलाएँ हैं और वे राष्ट्र की समस्त संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती हैं, क्योंकि पुरुष तो अपने ही शिक्षा-लाभ में अधिक व्यस्त रहते हैं।

किडी के पत्र मिले। जातियाँ रहेंगी या जाएँगी, इस प्रश्न से मेरा कोई मतलब नहीं। मेरा विचार है कि

भारत और भारत के बाहर मनुष्य जाति में जिन उदार भावों का विकास हुआ है, उनकी शिक्षा गरीब से गरीब और हीन से हीन को दी जाय और फिर उन्हें स्वयं विचार करने का अवसर दिया जाय। जात-पात रहनी चाहिए या नहीं, महिलाओं को पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए या नहीं, मुझे इनसे कोई वास्ता नहीं। "विचार और कार्य की स्वाधीनता ही जीवन, उन्नति और कल्याण का एकमेव साधन है"। जहाँ यह स्वाधीनता नहीं है वहाँ व्यक्ति, जाति तथा राष्ट्र की अवनति होगी।

जात-पात रहे या न रहे, सम्प्रदाय रहे या न रहे परन्तु जो मनुष्य या वर्ग, जाति राष्ट्र या संस्था किसी व्यक्ति के स्वतंत्र विचार या कर्म पर प्रतिबन्ध लगाती है—भले ही उसमे दूसरों को क्षति न पहुँचे तब भी——वह आसुरी है और उसका नाश अवश्य होगा।

जीवन में मेरी एकमात्र अभिलाषा एक ऐसे चक्र का प्रवर्तन कर देने की है, जो उच्च एवं श्रेष्ठ विचारों को सबके द्वारों तक पहुँचा दे और फिर स्त्री-पुरुष अपने भाग्य का निर्णय स्वयं कर लें। हमारे पूर्वजों तथा अन्य देशों ने भी जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर क्या विचार किया है, यह सर्वसाधारण को जानने दो। विशेषकर उन्हें यह देखने दो कि और लोग इस समय क्या कर रहे हैं और तब उन्हें निर्णय करने दो। हमें तो बस रासायनिक द्रव्य इकट्ठे कर देना है और प्रकृति के अपने नियमानुसार वे विशेष आकार धारण कर लेंगे। परिश्रम करो, अटल रहो और भगवान पर श्रद्धा रखो। काम शुरू कर दो। देर-सवेर मैं आ ही रहा हूँ। 'धर्म को बिना हानि पहुँचाये जनता की उन्नति'——इसे अपना आदर्श वाक्य बना लो।

याद रखो कि राष्ट्र झोपड़ी में बसा हुआ है; परन्तु शोक ! कभी किसी ने उन लोगों के लिए कुछ किया नहीं । हमारे आधुनिक सुधारक विधवाओं के पुर्नविवाह कराने में व्यस्त हैं । निश्चय ही मुझे प्रत्येक सुधार से सहानुभूति है; परन्तु राष्ट्र की भावी उन्नति उसकी विधवाओं को मिले पतियों की संख्या पर नहीं, अपितु 'आम जनता की अवस्था' पर निर्भर है । क्या तुम जनता की उन्नति कर सकते हो ? बिना उनकी स्वाभाविक आध्यात्मिक वृत्ति को नष्ट किये क्या उनका खोया हुआ व्यक्तित्व उन्हें वापस दिला सकते हो ? क्या समता, स्वतंत्रता, कार्य-कौशल और शक्ति में तुम पाश्चात्यों के भी पाश्चात्य बन सकते हो ? उसके साथ-साथ क्या तुम स्वाभाविक आध्यात्मिक अंतःप्रेरणा व अध्यात्म-साधनाओं में एक कट्टर सनातनी हिन्दू हो सकते हो ? यह काम करना है और हम इसे करेंगे ही । तुम सबने इसी के लिए जन्म लिया है । अपने आप पर विश्वास रखो । दृढ़ विश्वास महत् कार्यों का मूल है । हमेशा बढ़ते चलो । मरते दम तक गरीबों और पददलितों के लिए सहानुभूति—यही हमारा मंत्र है । वीर युवको ! बढ़े चलो !

शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

पुनश्च—इस पत्र को प्रकाशित न करना—परन्तु एक केन्द्रीय महाविद्यालय खोलकर साधारण लोगों की उन्नति के विचार का प्रचार करने में कोई हर्ज नहीं । इस महाविद्यालय के शिक्षित प्रचारकों द्वारा गरीबों की कुटियों में जाकर उनमें शिक्षा एवं धर्म का प्रचार करना होगा । सबमें रुचि उत्पन्न करने का प्रयत्न करो ।

तुम लोगों के पास मैं यहाँ के केवल सर्वोत्तम तथा प्रसिद्ध अखबारों की कुछ कतरनें भेज रहा हूँ। इन सभी में डॉ० टॉमस का लेख विशेष मूल्यवान है, क्योंकि वे चाहे सर्वाग्रणी न हों, तो भी यहाँ के श्रेष्ठ पादरियों में से एक हैं। 'इन्टीरियर' पत्रिका की कट्टरता एवं मुझे गाली देकर खुद की प्रसिद्धि लाभ करने के प्रयत्न के बावजूद उसे यह स्वीकार करना पड़ा कि मैं सर्वप्रिय वक्ता था। उसमें का भी कुछ अंश मैं काटकर भेज रहा हूँ।

वि०

□

स्थितप्रज्ञ का स्वरूप

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के 'चिन्तन' कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। पाठकों के अनुरोध पर उन्हें 'विवेक ज्योति' में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। —स.)

हमारे धर्मग्रन्थों में आत्मप्रबुद्ध तथा आत्मज्ञानी व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ पुरुष के नाम से सम्बोधित किया गया है तथा वहाँ विस्तार से उसके लक्षणों की चर्चा की गई है। किन्तु अनेक व्यक्ति गीता तथा अन्य धर्मग्रन्थों में स्थितप्रज्ञ पुरुष की विशेषताओं को पढ़कर ऐसा समझते हैं कि स्थितप्रज्ञ पुरुष मानों पाषाण या जड़वत् वस्तु हो, जिसमें कोई चेतना न हो, क्योंकि वह सुख-दुःख, शीत-उष्ण में अविकारी रहता है। लोग सोचते हैं कि क्या मनुष्य की ऐसी स्थिति सम्भव है? और यदि है भी तो क्या वह उपादेय है? फिर स्थितप्रज्ञ व्यक्ति और पागल में फर्क ही क्या रहा?

असल में हमारे धर्मग्रन्थों में स्थितप्रज्ञ पुरुष के जो गुण बताये गये हैं, उनकी प्राप्ति जीवन में सम्भव है। पर वह कोई जड़ अवस्था नहीं है। वहाँ पर चैतन्य अत्यन्त तीव्र रूप में स्पन्दित होता है। जो लक्षण गीता में स्थितप्रज्ञ के बताये गये हैं, वे उस पुरुष के मनोभावों के बाहरी प्रकाश हैं। इस स्थिति को पहुँचा हुआ व्यक्ति

मानसिक सन्तुलन की अवस्था प्राप्त करता है। अनुकूल होने पर वह सुख से फूलता नहीं और प्रतिकूल होने पर वह उद्विग्न नहीं होता। तात्पर्य यह कि वह अनुकूलता-प्रतिकूलता और इसी प्रकार के सारे द्वन्द्वों को प्रकृति का प्रवाह मानता है और वह स्वयं इस प्रवाह से अपने को परे समझता है---साक्षी के रूप से। इसीलिए वह निर्द्वन्द्व होता है। यह अवस्था सतत अभ्यास से प्राप्त हो सकती है---विवेक और वैराग्य के अभ्यास से लोगों ने इस स्थिति को प्राप्त किया है।

यह अवस्था उपादेय भी है, बल्कि यों कहें यही अवस्था समस्त रचनात्मक शक्ति की नींव है। इसको समझाने के लिए एक उदाहरण लें। आप कोई मैच देख रहे हैं। आप दोनों दलों में से किसी की ओर नहीं है। आप निष्पक्ष दर्शक मात्र हैं। मैच देखने में आपको अधिक आनन्द मिलेगा या किसी एक विशिष्ट दल वाले व्यक्ति को? निश्चय ही आपको। किसी भी दल से सम्बन्धित व्यक्ति आपके समान आनन्द नहीं उठा सकता। वह तो अपने दल की हार-जीत से चिन्तित रहेगा। दूसरे दल के खिलाड़ी का सुन्दर खेल उसे कोई आनन्द नहीं दे सकेगा। पर आप निष्पक्ष हैं, निर्दलीय हैं, इसलिए दोनों ओर के खिलाडियों के खेल का आनन्द उठा सकते हैं। ठीक इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ पुरुष सुख-दुख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों में दोनों विपरीत अवस्थाओं का आनन्द उठाता है। इसका तात्पर्य यह है कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति सुख के समान दुख में भी आनन्द का प्रकाश देखता है। यह सत्य है कि यह बड़ी ऊँची अवस्था है किन्तु इसे एक असम्भाव्य अवस्था नहीं कहा जा सकता। हमारे आध्या-

त्मिक ग्रन्थ इसी अवस्था को जीवन के लक्ष्य के रूप में निर्देशित करते हैं ।

पागल व्यक्ति के बाहरी क्रियाकलाप ऊपरी तौर पर देखने से स्थितप्रज्ञ के व्यवहारों के समान प्रतीत हो सकते हैं, पर पागल और स्थितप्रज्ञ की दशा में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। कल्पना कीजिए--प्रकाश के अभाव में जो अन्धकार रहता है उसकी और साथ ही चौंधियाती रोशनी की । ऊपर-ऊपर से दोनों समान से लगते हैं क्योंकि दोनों ही दशाओं में आँखें अपना काम नहीं कर पातीं । पर कितना अन्तर दोनों में है । यही बात पागल और स्थितप्रज्ञ की है। एक में अज्ञान का, विक्षिप्तता का अन्धकार विद्यमान है और दूसरे में ज्ञान का, सुबोधता का चौंधियाता प्रकाश संस्थित है। इसीलिए श्री भगवान गीता में कहते हैं--"हे पार्थ ! जब कोई व्यक्ति अपने मन के समस्त कामनाओं का परित्याग करता है और अपने आप में सन्तुष्ट होकर रहता है, तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं । दुख में जिसके मन को खेद नहीं होता, सुख में जिसकी आसक्ति नहीं होती, जिसके प्रीति, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, उसी को स्थितप्रज्ञ मुनि कहा जाता है ।"

श्रीरामकृष्णवचनामृत–प्रसंग

(चौतीसवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के अध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी,कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्री श्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशन किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स.)

ठाकुर का आचरण और लोकशिक्षा

अब हम जिस अंश की चर्चा करेंगे, उसके शुरू के दो परिच्छेद प्रमुखतः वर्णनात्मक हैं। पहले परिच्छेद में संध्या का वर्णन है। जब दिन बीत जाता है, रात्रि का आगमन होने लगता है, उस सन्धि-काल का एक खास महत्व है। उस समय साधकगण संध्या उपासना करते हैं। ठाकुर कहते थे---काल के महत्व को मानना पड़ता है। विशेष विशेष समय पर ठाकुर के अन्तःकरण में विशेष भावों का उदय होता था। सन्ध्या हो गई है, ठाकुर सर्वत्र जैसा करते हैं, यहाँ बलराम मंदिर में भी वे मधुर स्वर में नामोच्चार कर रहे हैं। सभी उत्सुक होकर ध्यानपूर्वक सुन रहे हैं। इतना मधुर नाम! मानों अमृत की वर्षा हो रही है। ठाकुर का यह नाम--संकीर्तन सबको विशेष रूप से आकर्षित करता था। जिन्होंने भी सुना, कभी भूल नहीं सके। उसे अनुभव कर मास्टर

महाशय कहते हैं, "ये प्रेमिक संन्यासी क्या सुन्दर रूप-धारी अनन्त ईश्वर हैं ? पिपासुओं की प्यास क्या यहीं बुझेगी ?" ठाकुर ने इसके पहले अवतार के प्रसंग में कहा था—सब कुछ ईश्वर है, तो फिर अवतार कैसा ? 'नहीं जैसे गाय के थन से दूध आता है, वैसे ही अवतार क माध्यम से भगवान का विशेष भाव—विशेष शक्ति प्रगट होती है।' जो विशेष अमृत वे बरसाते हैं, वह उन्हीं के समान अवतार के भीतर से प्रवाहित होता है। नामगुण-कीर्तन के पश्चात् ठाकुर बच्चों के समान सरल भाषा में प्राथना कर रहे हैं। मास्टर महाशय के मन में एक खास विचार उठा कि जो सारे समय उनका नाम लत हैं, उन्हें सन्ध्या के समय अलग से नाम लेने की क्या आवश्यकता ? दूसरे ही क्षण ठाकुर के चरित्र के एक अन्य पक्ष की ओर उनका ध्यान गया—ठाकुर ने लोक शिक्षा के निमित्त देह धारण किया है, इसीलिए ऐसा करत ह। स्वयं आचरण करके जीवों को सन्ध्या क समय नाम गुणगान करने की शिक्षा दे रहे हैं। —"हरि आपनि एसे, योगीबेशे, करिले नाम-संकीर्तन।"—हे हरि तुम स्वयं योगी के वेश में आये और नाम-संकीर्तन किया।

गिरीश ठाकुर को अपने घर आने का निमंत्रण देते हैं। उसी रात जाना होगा। लगता है ठाकुर की थोड़ी अनिच्छा थी, अतः बोले, "रात न होगी ?" गिरीश ने कहा—"नहीं आप जब चाहें, आइएगा। मुझे आज थियेटर जाना होगा, उन लोगों में लड़ाई हो रही है, उसका निपटारा करना है।" तात्पर्य यह कि ठाकुर गिरीश की बात टाल नहीं सकते, निमंत्रण दिया है, गिरीश घर

पर रहें या न रहें, जाना ही होगा। बलराम ने भी ठाकुर के लिए खाना बनवाया है। ठाकुर उनसे थाली वहीं भेज देने को कहते हैं, यह समझा देने के लिए कि वे बलराम का अन्न पसन्द करते हैं। अब गिरीश के घर जाएँगे। दूसरी मंजिल से उतरते हुए वे भगवद्भाव में विभोर हो उठे। ठाकुर के इन भावों पर भक्तगण विशेष रूप से ध्यान देते थे। ठाकुर भावविभोर हैं, क्योंकि गिरीश भक्त हैं। भक्त की याद आते ही वे भगवद्भाव में विभोर हो गये। ऐसे चल रहे हैं जैसे कोई मतवाला हो। ऐसी हालत में ठाकुर अधिक नहीं चल पाते थे। कहीं भी जाना होता तो घोड़ागाड़ी से जाते। बलराम के घर से गिरीश का घर बहुत निकट था। ठाकुर इतनी तेजी से चलने लगे कि बाकी लोग पिछड़ने लगे। उनके मन में जब जो भी विचार उठता, एकाग्रता के परिणामस्वरूप तब केवल वही विचार बना रहता। कोई भी कार्य करता हूँ, करूँगा, हो रहा है, होगा, यह भाव ठाकुर सहन नहीं कर सकते थे। उनका भाव था——अभी इसी वक्त करना होगा। उनके समस्त जीवन में सभी कार्य इसी प्रकार अनुष्ठित हुए हैं। जो भी विचार करते, उस पर उनका समग्र मन इतना व्याकुल हो उठता कि अन्य विचार वहाँ प्रवेश ही नहीं कर पाते। गिरीश के घर जाएँगे, जब यही विचार उनके मन में प्रबल हो गया है, तब अन्य कोई विचार उनके मन में नहीं आता, इसीलिए वे इतनी तेजी से चल रहे थे।

उसी भाव में उन्होंने नरेन्द्र को देखा, पर कुछ बोल नहीं सके। बाद में भाव कुछ संवरण होने पर वे बोले, "भैया अच्छे हो न ? मैं उस समय कुछ बोल नहीं

सका ।" प्रत्येक शब्द मानों करुणा से सराबोर था । उसके बाद चलते-चलते अचानक मुड़कर खड़े हो गए और बोले--"एक बात है--एक तो यह है (देही ?) और एक वह (जगत्?) ।" मास्टर महाशय ने इसकी व्याख्या नहीं की है । कोष्टक में प्रश्नवाचक चिह्न देकर कहते हैं--'एक यह' का अर्थ क्या देही है? तथा 'एक वह' का अर्थ क्या जगत है ? जीव और जगत ? चैतन्य और चैतन्य की बाह्य अभिव्यक्ति--जीव-जगत ? मास्टर महाशय सोच रहे हैं, "क्या वे भाव में यह सब देख रहे थे ? अवाक् होकर उन्होंने क्या देखा यह तो वे ही जाने ।" ठाकुर ने यह बात कही तो ऐसा लगा मानों वह वेद वाक्य हो, देववाणी हो । मास्टर महाशय कहते हैं, "मानों अनन्त समुद्र के किनारे आ गया हूँ, अवाक् होकर खड़ा हूँ और अनन्त तरंग--मालाओं से उठती हुई अनाहत नाद की दो-एक ध्वनि कानों में प्रविष्ट हुई है ।"

नित्यगोपाल

ठाकुर गिरीश के दरवाजे पर आ पहुँचे । गिरीश दरवाजे पर प्रतीक्षा कर रहे थे । ठाकुर के पास आने पर उन्होंने साष्टांग प्रणाम किया तथा भक्तों के साथ ठाकुर को दूसरी मंजिल की बैठक में ले गये । आसन ग्रहण करते समय श्रीरामकृष्ण ने देखा कि वहाँ एक अखबार पड़ा हुआ है । उनके संकेत करने पर उसे वहाँ से हटाया गया । समाचारपत्र में विषयी लोगों की बातें रहती हैं, इसलिए उन्हें उससे विरक्ति है; उसमें परनिन्दा, परचर्चा रहती है, इसलिए उनकी दृष्टि में वह अपवित्र है । अखबार हटा लेने के बाद ठाकुर ने आसन ग्रहण किया । नित्य-गोपाल ने प्रणाम किया । ठाकुर उनसे पूछते हैं, "वहाँ

(अर्थात् दक्षिणेश्वर) नहीं आते ?" नित्यगोपाल कहते हैं, "तबीयत ठीक नहीं रहती, दर्द है, इसलिए नहीं आ सका, (उन्हें अम्ल के कारण पेट में पीड़ा होती थी)।" ठाकुर पूछते हैं, "कैसे हो ?" नित्यगोपाल कहते हैं, "अच्छा नहीं रहता।" ठाकुर कहते हैं, "मन को कुछ निम्न स्तर पर लाना।" इतना चढ़े रहने पर शरीर टिकेगा नहीं। भाव प्रबल होने पर साधारण देह उसे धारण नहीं कर सकता। ठाकुर कहा करते कि श्री राधा, श्री चैतन्यदेव इन्हीं को महाभाव होता था। अवतारी पुरुष ही इस महाभाव को धारण करने में सक्षम होते हैं। ठाकुर अपनी अनुभूतियों के आधार पर महाभाव का वर्णन करते हैं, "कैसा होता है जानते हो ? जैसे एक छोटे तालाब में दस हाथी उतर कर उथल-पुथल मचा देते हैं।" साधारण मनुष्य का शरीर उस वेग को धारण नहीं कर पाता, टूट जाता है। अवतार की देह अन्य धातु की बनी होती है, उसमें भाव के आवेग को धारण करना सम्भव है। यह बात हमारी कल्पना के परे की है, क्योंकि हम लोगों के शरीर में केवल स्थूल अनुभूतियाँ ही होने के कारण हम उन सबसे परिचित नहीं हैं। सूक्ष्म अनुभूतियों की तीव्रता की हमें बिल्कुल भी धारणा नहीं होती। वे अनुभूतियाँ अत्यन्त तीव्र होती हैं। व्यावहारिक जगत में देखा जाता है कि प्रबल शोक से अभिभूत होने पर मनुष्य का देह उस शोक के वेग को सहन नहीं कर पाता। और यह बात जैसे दु:ख के विषय में सत्य है, वैसे ही सुख के विषय में भी। भगवदानन्द में जो विपुल सुख होता है अथवा भगवद्-विरह में जो तीव्र वेदना होती है, यदि शुद्धसत्व भक्त देह न हो तो उन तीव्र आवेगों को धारण करना

सम्भव नहीं हो पाता। इसीलिए ठाकुर नित्यगोपाल से एक दो स्तर नीचे रहने को कहते हैं। इसके उत्तर में नित्यगोपाल ने बताया कि वे तारक के साथ रहते हैं, परन्तु बीच-बीच में वे भी अच्छे नहीं लगते। ठाकुर दृष्टान्त देते हुए कहते हैं, "नागा कहता था कि उसके मठ में एक सिद्ध था, वह आसमान की ओर नजर उठाये हुए चला जाता था, गणेशगर्जी—परन्तु उसका एक साथी चले जाने से उसे बड़ा दुःख हुआ, वह अधीर हो गया।" साथी का देहान्त हो जाने पर साधु को बहुत दुःख हुआ था। तब से किसी अन्य का साथ उन्हें अच्छा नहीं लगता था। यहाँ गणेशगर्जी शब्द का प्रयोग ठाकुर ने किस अर्थ में किया, यह तो समझ में नहीं आता, क्योंकि इस शब्द का प्रयोग अन्यत्र कहीं भी नहीं हुआ है। प्रसंग देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे निःसंग भाव से जगत की उपेक्षा करके हाथी के समान गर्जन करते हुए चले जाते थे। इस तरह किसी से कोई अपेक्षा न रखना—यह ज्ञानी का लक्षण है। अनपेक्ष अर्थात् किसी वस्तु या व्यक्ति से कोई अपेक्षा न रखना; पूर्णतः स्वतंत्र रहना, मानो किसी से कोई सम्बन्ध ही न हो।

'तू आया है? मैं भी आया हूँ।'

बात करते-करते अचानक श्रीरामकृष्ण में भाव-परिवर्तन हो गया। न जाने किस भाव में अवाक् हो गये। कुछ देर बाद बोले, "तू आया है? मैं भी आया हूँ।" मास्टर महाशय कहते हैं, "यह बात कौन समझेगा? क्या यही देवभाषा है?" कभी उन्होंने इस बात की व्याख्या करने की चेष्टा नहीं की। अगर हम इस बात की

व्याख्या करें, तो उस पर हमारा मनोभाव आरोपित होगा, यह अनुचित होगा। इसका क्या यह तात्पर्य है कि श्रीरामकृष्ण अकेले नहीं हैं, बल्कि अपने पार्षदों को भी साथ लेकर आए हैं। ठाकुर ने अन्यत्र एक जगह कहा है, "वैसे ही जैसे कलमी का दल, एक को खींचने से पूरी लता खिंची चली आती है।"

ठाकुर की बातों से (लीला-प्रसंग में वर्णित) हमें ज्ञात होता है कि अखण्ड के राज्य में सात ऋषि ध्यानमग्न थे। वहाँ एक देवशिशु ने अपनी दोनों कोमल बाँहों को नर ऋषि के गले में डाल दिया। उस स्पर्श के फलस्वरूप ऋषि ने अपनी आँखें खोलीं। तब देवशिशु उनसे बोला, "मैं जा रहा हूँ, तुम्हें भी आना होगा।" यह सुनकर ऋषि मुस्कुराये तथा कुछ देर बाद पुन: नेत्र मूंदकर ध्यानमग्न हो गये। (इसकी व्याख्या लीलाप्रसंग के लेखक ने नहीं की है) ऐसा लगता है कि वह देवशिशु स्वयं श्रीरामकृष्ण थे। जगत के कल्याणार्थ वे देहधारण कर आ रहे थे। इस कार्य में सहकारी के रूप में स्वामीजी को आना होगा, इसलिए उन्होंने नर ऋषि से यह बात कही। 'लीलाप्रसंग' कार ने अपूर्व कवित्वमय भाषा में इस देवशिशु का वर्णन किया है।

अखण्ड के राज्य का एक अंश घनीभूत होकर एक शिशु के रूप में परिणत हुआ है। यह बात सामान्य बुद्धि से परे की है। देवशिशु के कहने पर ध्यानमग्न ऋषि अवतरित होने के लिए अपनी सम्मति का संकेत करते हुए हँसकर पुन: ध्यानमग्न हो जाते हैं। अभिप्राय यह था कि तुम्हारे इस प्रबल आकर्षण की उपेक्षा भला कौन कर सकता है? देवशिशु का प्रबल आकर्षण ध्यानमग्न

ऋषियों का भी ध्यान भंग कर देता है, समाधि के गंभीर आनन्द का त्याग करके उन्हें देवशिशु का अनुगमन करना पड़ता है। कहते हैं, "मैं जा रहा हूँ, तुम्हें भी आना होगा।" पूछा ही नहीं कि आओगे या नहीं। छोटे बच्चे जैसे हठ करते हैं, ठीक वैसे ही। उस हठ के सामने तर्क करना व्यर्थ है, जो कहा उसे मानना होगा। देवशिशु का यह प्रेम-पूर्ण आदेश ऋषि को बाध्य होकर मानना पड़ा। प्रेमपूर्ण स्पर्श से उनका ध्यान भंग हो गया था और कुछ काल बाद वे पुनः ध्यानमग्न हो गये। यही है कलमी का दल—जब वे आते हैं तो पूरे दल को साथ ले आते हैं। उन्हीं लोगों के सन्दर्भ में कहते हैं, "तू आया है ? मैं भी आया हूँ।" अभिप्राय यह है कि अब, जब तक स्थूल शरीर का त्याग नहीं करेंगे, तब तक एक बार फिर नये सिरे से लीला चलेगी।

मास्टर महाशय कहते हैं, "यह बात कौन समझेगा ? क्या यही देवभाषा है ?" देवभाषा अर्थात् जो साधारण बुद्धि से अतीत है। उसका अर्थ हम अपनी अनुभूति के आधार पर नहीं जान सकेंगे। जो लोग उस अनुभूति के स्तर पर रहते हैं, केवल वे ही इसका अर्थ समझ सकते हैं। अन्य लोग केवल कल्पना के उधेड़बुन में लगे रहते हैं, जिसमें कुछ तो ठीक और कुछ गलत भी रहता है। श्री 'म' उनके इस वाक्य "एक तो यह है और एक वह' की भी कोई व्याख्या नहीं करते।

द्रष्टा और दृश्य

द्रष्टा और दृश्य – ज्ञानी की दृष्टि में ये दो वस्तुएँ पृथक रूप में प्रतिभात होती हैं। वे कभी इन दोनों में घालमेल नहीं होने देते। वे द्रष्टा को केवल द्रष्टा

और दृश्य को केवल दृश्य के रूप में देखते हैं। तो फिर इस तथ्य के साथ उस वाक्य, "एक तो यह है और एक वह" का थोड़ा साम्य है। एक तो यह है अर्थात् द्रष्टा एक है और एक वह अर्थात् दृष्य एक है। ये दोनों एक दूसरे से पूर्णतया पृथक हैं। जगत में जब तक व्यवहार चलता है, तब तक इन दोनों को मिलाकर चलता है। उसी मिश्रण की सीमा को मानों पार करके ठाकुर कहते हैं, "एक यह है, एक वह है।" इसका यह एक अर्थ हो सकता है कि दोनों का पृथक्करण हो गया था, मिश्रित रूप में बोध नहीं हो रहा है।

और जहाँ ठाकुर कहते हैं, "सब कुछ वे ही हुए हैं," वहाँ ऐसा प्रतीत होता है, मानों वे एकमात्र उन्हें ही देख रहे हैं। वे सर्वत्र इस तरह ओतप्रोत हैं कि इस वैचित्र्यमय जगत में उनसे अलग कोई सत्ता उनके देखने में नहीं आती।

एक और भी अवस्था है, जहाँ दो का अस्तित्व नहीं रह जाता। जहाँ वैचित्र्य नहीं रह जाता अपितु समस्त दृश्यों का विलोप हो जाता है। जो एकमात्र था, वही रह जाता है---उसे द्रष्टा भी नहीं कहा जा सकता। जहाँ दृश्य नहीं है, वहाँ द्रष्टा भी नहीं है। फिर भी इस व्यवहार से अतीत जो अव्यवहार्य तत्व है, उसे समझाने के लिए हम कहते हैं कि वे नित्यद्रष्टा हैं, तब वे दृष्यवर्ग के अन्तर्गत नहीं आते। इसी प्रकार हम समझते हैं और समझने के लिए कहते हैं---जगत के अनुभव के भीतर ही इन दोनों को पृथक् कर डालना होगा---एक द्रष्टा और एक दृष्य। इनमें तत्व एक है और दूसरा उस पर आरोपित है। पृथक् होने पर एकमात्र शुद्ध तत्व ही

अवशिष्ट रह जाता है। उस तत्व के साथ और किसी आरोपित वस्तु का अनुभव नहीं होता। ठाकुर ने जब कहा, "एक तो यह है और एक वह" तब मानो वे जगत को वह एक अद्वय तत्व समझाने आये हैं। इसीलिए इस पृथक्करण का उपदेश देकर कहते हैं––ब्रह्म से इस जगत की पूर्णतः पृथक् कर डालो––एक आत्मा है और बाकी सब अनात्मा। इन दोनों को पूरी तौर से अलग कर दिया जाता है तो उसके तत्काल बाद ही ब्रह्मज्ञान होता है।

卐

मानस-रोग (१४/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'श्रीरामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल मिलाकर ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलिखन उनके चौदहवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय में अध्यापक हैं। —स.)

फिर वही क्रम—अयोध्याकाण्ड में मन्थरा की जो भूमिका है—कैकेयी के मन में जिस तरह से मन्थरा ने लोभ और क्रोध को जगा दिया, ठीक उसी तरह सूर्पणखा ने यहाँ खर-दूषण के मन में काम और क्रोध की वृत्तियों को जगा दिया। पहले तो यह कहकर वह उनके क्रोध को जगाती है कि उन दो राजकुमारों ने मुझे कुरूप कर दिया है और काम को यह कहकर जगाती है कि उनके साथ में एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री है, जो तुम्हारे ही योग्य है। इसका परिणाम यह होता है कि वे इस काम की वृत्ति से प्रेरित होकर राम की ओर बढ़ते हैं, पर आगे चलकर जब उनके काम की पूर्ति में रुकावट आयी तब क्रोध आ जाता है। पहले तो खर-दूषण ने अपने मंत्री से यही कहा कि—

जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा।
बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ।।३/१८/५

—"यद्यपि इन लोगों ने हमारी बहन को कुरूप कर दिया है फिर भी ये सुन्दर राजकुमार मारने योग्य नहीं हैं।" बात तो बड़ी ऊँची लगी पर तुरन्त उनको

वासनामयी वृत्ति साकार हो गयी। उन्होंने कहा कि हम तो राम को छोड़ देने के लिए तैयार हैं पर उससे कहो कि—

देहु तुरत निज नारि दुराई।
जीअत भवन जाहु द्वौ भाई ॥३/१८/६

—सीता को दे दें और राम-लक्ष्मण दोनों लौट जायँ। पर ये तीनों तो अभिन्न हैं। एक-दूसरे से अलग हो ही नहीं सकते। जब तक ज्ञान-भक्ति-वैराग्य का समन्वय और सन्तुलन नहीं होगा तब तक समग्र सुख नहीं मिल सकता। पर जहाँ पर वासना की यह वृत्ति विद्यमान है वहाँ यही विडम्बना है कि एक से राग और दूसरे से द्वेष होता ही है। खर-दूषण ने भी यही किया। उन्होंने सीता को पाना चाहा पर राम से अलग करके। वह कहता है कि सीता को मुझे सौंप दो और दोनों भाई अपने घर लौट जाओ। जब उनका मंत्री यह सन्देश लेकर भगवान राम के पास गया तो श्री राम ने उससे कहा—

हम छत्री मृगया बन करहीं।
तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं।३/१८/९

—"मैं क्षत्रिय हूँ, बन में शिकार के लिए आया हूँ और तुम जैसे दुष्ट पशुओं की ही खोज में था।"

सुनि खर दूषन उर अति दहेऊ ॥३/१८/१४

—भगवान का वाक्य सुनकर खर-दूषण के हृदय में बड़ा दाह उत्पन्न हुआ। क्रोध में पागल होकर उन्होंने भगवान राम पर आक्रमण कर दिया। तब भगवान ने लक्ष्मणजी से कहा कि राक्षसों की भयंकर सेना आ रही है, सीता की रक्षा का भार मैं तुम्हें सौंपता हूँ।

लै जानकिहि जाहु गिरि कंदर ।
आवा निसिचर कटकु भयंकर ।।
रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी ।
चले सहित श्री सर धनु पानी ।।३/१७/११-१२

लक्ष्मणजी तुरन्त श्री सीताजी को लेकर कन्दरा में चले जाते हैं । और इसका अर्थ क्या है ? भक्ति का अर्थ ही है राग । भगवान राग की सुरक्षा तो तभी कर सकेंगे जब संसार से वैराग्य होगा । इसीलिए तो रामायण में कहा गया है --

जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी...।।११/८५

—तो भक्ति अत्यन्त अनुरागी है पर उसकी सुरक्षा का तात्पर्य क्या है ? रामायण में बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया गया है । कहा गया है—

बिरति चर्म संतोष कृपाना ।।६/७९/७

या जैसे उत्तर काण्ड में कहा गया है—

बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि ।
जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि।।
७/१२०/ख

इन दोनों प्रसंगों में वैराग्य की तुलना ढाल से की गई है । यह ढाल तो अब आप संग्रहालय में ही देख पायेंगे । आजकल तो उसका प्रयोग नहीं होता । यह ढाल बिलकुल सूखे चमड़े से बनाई जाती थी । इतिहास को पढ़ने से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में गैंडे के चमड़े से ढाल बनाई जाती थी । गैंडे की खाल अत्यन्त कठोर और मोटी होती है । उसे सुखाया जाता था । खाल का रक्त जब पूरी तरह से सूख जाता था तब उसकी ढाल बनाई जाती थी । तो इतनी कठोरता और

इतनी शुष्कता का उद्देश्य क्या था ? कोमलता की रक्षा करना । शरीर कोमल है और सामने वाला शत्रु जब आक्रमण कर दे, तलवार चला दे, तो परिणाम यह होगा कि रक्त बहने लगेगा और मृत्यु हो जायगी । तो योद्धा एक ओर तो तलवार से शत्रु पर प्रहार करता है और दूसरी ओर ढाल से अपनी रक्षा करता है । इसका अभिप्राय यह है कि दुर्गुणों के आक्रमण से हमारा राग संसार में बह गया, नष्ट हो गया तो हमारी साधना-शक्ति, प्राणशक्ति समाप्त हो जायगी । इसलिए वैराग्य की जो नीरसता है, वैराग्य की जो शुष्कता है, वह भक्ति की कोमलता और सरसता की, भक्ति के राग की रक्षा करने के लिए है । इसीलिए लक्ष्मणजी बड़े नीरस लगते हैं, जो उनके लिए शोभा की बात है । लक्ष्मणजी अगर सरस दिखाई न दें, रूखे-सूखे व कठोर प्रतीत हों, तो यह तो वैराग्य की भूमिका के अनुकूल ही है और यही कार्य उन्हें सौंपा गया है । भक्ति की रक्षा के लिए लक्ष्मण वैराग्य की भूमिका में हैं और भगवान राम ? भगवान राम अखण्ड ज्ञान हैं । और ये चौदह हजार राक्षस ? ये दुर्गुण और दुर्विचार हैं जो एक साथ अकेले श्रीराम के ऊपर आक्रमण कर देते हैं और ज्ञान के द्वारा ही इन पर विजय प्राप्त होती है । तो यहाँ पर दो भूमिकाएँ हैं—सुरक्षा और संहार । वैराग्य ढाल की तरह भक्ति को सुरक्षित रखता है और ज्ञान खड्ग की तरह दुर्गुणों दुर्विचारों का संहार करता है ।

अब यहाँ पर गोस्वामीजी ने एक बड़ी मनोवैज्ञानिक बात बड़े सांकेतिक ढंग से कह दी है । चौदह हजार राक्षस जब अकेले श्रीराम के ऊपर आक्रमण कर देते हैं तो ये

कोटि-कोटि देवता सब कहाँ चले गये थे ? ये सब राक्षस तो देवताओं के शत्रु हैं, उन्हें तो भगवान राम की सहायता के लिए तुरन्त आना चाहिए था। और यदि आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो ये चौदह हजार राक्षस यदि दुर्गुण-दुर्विचार हैं तो समस्त देवता सद्गुण-सद्विचार हैं। और जहाँ दुर्गुण-दुर्विचार को मिटाने का प्रश्न हो, वहाँ तो सद्गुण-सद्विचार की सशक्त भूमिका होनी चाहिए। पर उनका तो कहीं पता ही नहीं। इसका तात्पर्य क्या है? यह एक आध्यात्मिक सत्य है। सद्गुण-सद्विचार अपने आप में भले ही अच्छे हों, पर वे दुर्गुणों-दुर्विचारों को मिटाने में सक्षम नहीं हैं। कुछ कमी उनमें भी है जिसे मानस में बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। जब चौदह हजार राक्षसों ने अकेले भगवान राम पर आक्रमण किया तो देवता आकाश में अपने विमानों पर बैठे हुए यह दृष्य देख रहे थे और दुखी भी हो रहे थे कि हाय, श्री राम अकेले और राक्षस चौदह हजार हैं; तथा डर के मारे काँप भी रहे थे। यह भय से काँपना देवताओं का एक विशेष स्वभाव है। ये बड़े जल्दी आतंकित हो जाते हैं--

सुर डरत चौदह सहस प्रेत
बिलोकि एक अवध धनि ।३।१९।२७

एक व्यक्ति चौदह हजार को कैसे जीतेगा ? भगवान राम ने कैसे जीता ? लिखा है कि बाण का प्रयोग करने पर भी इन राक्षसों की मृत्यु नहीं होती। मारने से तो मरेंगे नहीं। तब भगवान ने क्या किया ? उन्होंने अद्वैत तत्व का प्रयोग किया और विजय प्राप्त की। यह बड़ी अद्भुत बात है। श्री राम की विजय

अद्वैत तत्व की विजय है। और इन दैत्यों की पराजय माने इनकी द्वैतमूलक वृत्ति की पराजय। यह द्वैत और अद्वैत का संघर्ष है। इस युद्ध में भगवान राम ने अचानक बाण चलाना बन्द कर दिया और एक कौतुक किया। समस्त ब्रह्माण्ड ही तो ईश्वर का रूप है। भगवान श्री राघवेन्द्र तो अखण्ड ज्ञान में स्थित हैं ही। उन्होंने समस्त चौदह हजार राक्षसों को राम बना दिया। और यह उनके स्वभाव और स्वरूप के अनुकूल ही है। और तब होता क्या है? प्रत्येक राक्षस अपने सामने राम को देखता है और उस पर प्रहार करता है। इस तरह चौदह हजार राक्षस आपस में लड़कर स्वयं ही समाप्त हो गये। यही द्वैत बुद्धि की परिणति है। यदि वे चौदह हजार राक्षस सामने राम को देखने के साथ ही अपनी ओर भी देखने की चेष्टा करते तो उन्हें यही दिखाई देता कि सामने जो राम है वही राम मैं भी हूँ, आगे-पीछे आजू-बाजू चारों ओर राम और मैं भी राम, फिर तो सारा झगड़ा ही मिट जाता। पर वे तो अपनी ओर देखने के अभ्यस्त ही नहीं हैं, उसका तो नाम ही है दूषण, वासना की वृत्ति वाले, दूसरों का दोष देखने वाले, अपना दोष नहीं देखते।

आप कह सकते हैं कि भगवान श्री राघवेन्द्र ने भी तो आखिर अद्वैत का प्रयोग लड़ाने के लिए ही किया। तो इस पर गोस्वामीजी कहते हैं—नहीं नहीं, इसका परिणाम तो देखिए कितना अच्छा निकला? राक्षस भले ही एक दूसरे को राम समझकर लडने लगे पर श्री राम तो अद्वैत में स्थित हैं। कदाचित यही वृत्ति उनमें आ जाती तो वे श्रीराम से प्रेम करने लगते और भक्त हो जाते; पर अगर प्यार नहीं किया, लड़ गये, मर गये तो भी कोई

घाटे में नहीं रहे। उसका फल भी उन्हें वही मिला जो अद्वैत ज्ञान से मिलता है। क्या ?

राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान।३।२०

वे सब राम को मारते हुए, राम को देखते हुए, राम कहते हुए मर रहे हैं, और भगवान उन्हें अपने में समेट-कर समत्व में एकाकार किए जा रहे हैं।

भगवान श्री राघवेन्द्र की विजय हुई। लक्ष्मणजी श्री सीताजी को लेकर आते हैं। काम, क्रोध, लोभ की पराजय हो गयी है। ज्ञान-भक्ति-वैराग्य पुनः एकत्र हो गये। इन चौदह हजार राक्षसों सहित खर-दूषण के विनाश के बाद, समस्त दुर्गुणों एवं दुर्विचारों के दूर हो जाने के बाद, ज्ञान-भक्ति-वैराग्य पुनः प्रतिष्ठित हुए; पर क्या इससे समस्या का समूल नाश हो गया ? गोस्वामीजी कहते हैं—नहीं। खर-दूषण तो उस रोग-वृक्ष की केवल शाखा-प्रशाखाएँ थे। और उसकी जड़ कहाँ है ? सारी समस्याओं का मूल क्या है ?

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।

तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥७/१२०/२९

—मोह ही इन समस्त रोगों की जड़ है। और इसीलिए खर-दूषण के मर जाने पर सूर्पणखा दिखाई तो नहीं देती पर वह जाती नहीं है। सद्विचारों के उदय होने पर वासना दिखाई नहीं देती पर वह मरती नहीं, बल्कि अन्तकरण के किसी कोने में छिपी रहती है और दबे पाँव पहुँच जाती है मूल में अर्थात् मोह के पास। सूर्पणखा रावण के पास जाती है। और तब रावण क्या करता है ? यहाँ भी वही क्रम दिखाई देगा। रावण स्वर्णमृग लेकर जाता है। यह स्वर्णमृग क्या है ? इसे हम क्रमशः

ज्ञान, भक्ति और कर्म के सन्दर्भ में देखने की चेष्टा करेंगे। यह मृग नकली है। मारीच स्वर्णमृग बना हुआ है। यह मारीच तीन चीजों की सृष्टि करता है। ज्ञान की दृष्टि से मार्ग में सबसे बड़ी बाधा भ्रम है, भक्ति की दृष्टि से सबसे बड़ी बाधा है संशय और कर्म की दृष्टि से सबसे बड़ी बाधा है प्रलोभन। ज्ञान के सन्दर्भ में यह मारीच भ्रम है, मायामृग है। माया भ्रम की सृष्टि कर देती है, अवास्तविकता में वास्तविकता की स्वीकृति या प्रतीति करा देती है। सूर्पणखा ने भी माया का प्रयोग किया था। नकली रूप बनाकर गयी थी। पर वहाँ भगवान राम न यह दिखा दिया कि किस तरह से इस माया से, भ्रम से बचा जा सकता है। और यहाँ पर वे इसका दूसरा पक्ष भी हमारे सामने रख दे रहे हैं कि व्यक्ति अगर जरा भी असावधान रहे तो किस प्रकार वह भ्रम के द्वारा माया के जाल में फँस जाता है। यहाँ भगवान राम ने मारीच की माया को स्वीकार कर लिया। आज सारा क्रम उलट गया है। जब सूर्पणखा की माया आई तो भगवान ने भक्ति की ओर देखा, माया के मिथ्यात्व को देखा ही नहीं। पर आज तो श्री सीताजी ने ही उस माया-मृग को देख लिया। और देखा ही नहीं बल्कि भगवान से कहने लगीं—

सुनहु देव रघुबीर कृपाला।
एहि मृग कर अति सुन्दर छाला।।
सत्यसंध प्रभु बधि करि एही।
आनहु चर्म कहति वैदेही।।
तब रघुपति जानत सब कारन।
उठे हरषि सुर काज सँवारन।।३/२६/४-६

—इस मृग का चर्म बड़ा सुन्दर है, मारकर इसकी छाल ले आइए। और भगवान ने उस भ्रम को स्वीकार कर लिया। वे धनुष-बाण लेकर उस मायामृग के पीछे, भ्रान्ति के पीछे चल पड़े। ज्ञान संकट में कब पड़ता है? जब माया और भ्रान्ति के पीछे भागता है, अवास्तविकता के पीछे भागता है। इसीलिए आगे चलकर भगवान राम की आँखों में आँसू दिखाई देते हैं। उनका विलाप दिखाई दे रहा है। और भक्ति संकट में क्यों पड़ गई? भक्ति की दृष्टि से देखें तो यह स्वर्णमृग संशय की सृष्टि करने वाला है। भगवान राम जब इस मृग पर प्रहार करते हैं तब वह लक्ष्मण का नाम लेकर पुकारता है और उसका वह स्वर सुनकर सीताजी को यह भ्रम हो जाता है कि यह भगवान राम का स्वर है। और उसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने लक्ष्मणजी से कहा—

जाहु बेगि संकट अति भ्राता। ३/२७/३

ईश्वर के बल के प्रति संशय उत्पन्न हो गया। लक्ष्मण के चरित्र के प्रति संशय उत्पन्न हो गया। मृग ने भ्रम उत्पन्न किया तो ज्ञान दूर चला गया और संशय उत्पन्न किया तो भक्ति की वृत्ति विपरीत हो गयी। और आगे चल कर श्री सीताजी ने लक्ष्मणजी से ऐसे शब्द कह दिये कि लक्ष्मणजी व्याकुल हो गये—

मरम वचन जब सीता बोला।
हरि प्रेरित लछिमन मन डोला ॥३/२७/५

और तब सीताजी को छोड़कर लक्ष्मणजी दूर चले जाते हैं, वैराग्य दूर चला जाता है। वैराग्य कहाँ चला जाता है? जहाँ ज्ञान भ्रम के पीछे, प्रलोभन के पीछे भाग गया

है, वहाँ। परिणाम क्या हुआ? तीनों ही संकट में पड़ गये।

अब इस संकट से उन्हें उबारता कौन है? तो यहाँ पर संकट से उबारने वाले हनुमानजी की भूमिका आती है। हनुमानजी कौन हैं?

प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय। (विनयपत्रिका)

हनुमानजी प्रबल वैराग्य हैं। एक ओर तो वैराग्य लक्ष्मणजी के रूप में जीवन से दूर चला गया और ज्ञान-भक्ति संकट में पड़ गये। दूसरी ओर इस ज्ञान-भक्ति के दुःख को दूर करने की भूमिका वैराग्य के द्वारा ही पूर्ण होती है। भगवान राम सबसे अधिक प्रशंसा हनुमानजी की करते हैं, इसका अभिप्राय क्या है? हनुमानजी जब लंका से लौटकर आये और भगवान राम ने जाम्बवान से पूरा विवरण सुना कि हनुमानजी ने लंका में क्या-क्या कार्य किया तो उनकी आँखों में प्रेम के आँसू आ गये और उन्होंने गदगद कण्ठ से कहा——

सुनु कपि तोहि समान उपकारी।
नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी ॥५/३२/५

——हनुमान, तुम्हारे समान उपकार करने वाला न कोई देवता है, न कोई नर और न ही कोई मुनि। आज तक विश्व के इतिहास में तुम्हारे समान उपकारी और कोई हुआ ही नहीं। तो हनुमानजी की भूमिका क्या है? वे ज्ञान के संकट को दूर करने वाले, भक्ति के संकट को दूर करने वाले और इन बिछुड़े हुए सबको मिलाने वाले हैं। जिन दुर्गुणों-दुर्विचारों के कारण ज्ञान-भक्ति-वैराग्य साथ रहते हुए भी अलग-अलग दिखाई दे रहे हैं, सीताजी दूर चली गई हैं, भगवान राम विलाप करते हुए वन में चारों

ओर भटक रहे हैं और लक्ष्मणजी साथ होते हुए भी भगवान राम को सान्त्वना नहीं दे पा रहे हैं, अब उन कारणों को दूर करते हैं हनुमानजी ।

ज्ञान के सामने समस्या है स्वरूप विस्मृति का और भक्ति के सामने संशय का । और इसके निराकरण की भूमिका है हनुमानजी की । भगवान ने हनुमानजी को काम सौंपा कि जाकर सीताजी को मेरा सन्देश सुनाओ । हनुमानजी ने लंका में जाकर क्या किया ? जिस संशय के कारण भक्ति भगवान से दूर हो गयी थी, उस संशय को हनुमानजी ने भगवान की कथा के दिव्य औषधि के द्वारा दूर किया । रामकथा के विषय में गोस्वामीजी ने बताया कि इसके अनेक रूप हैं और उनमें से एक रूप वैद्य का भी है——

सद्गुर ग्यान विराग जोग के ।
बिबुध बैद भव भीम रोग के ।।१/३१/३

——"भगवान की कथा ज्ञान, वैराग्य और योग के लिए सद्गुरु है, और संसाररूपी भयंकर रोग का नाश करने के लिये देवताओं के वैद्य (अश्विनीकुमार) के समान हैं ।" तो हनुमानजी ने भगवान की यह सुन्दर कथा श्री सीताजी को सुनाया जो स्वयं वैद्य भी हैं और औषधि भी । कथा सुनकर पहले तो माँ के हृदय का दुःख दूर हो गया, शाँति की अनुभूति हुई और अन्त में उनके मन में जो संशय था, वह दूर हो गया ।

रामचंद्र गुन बरनैं लागा ।
सुनतहिं सीता कर दुख भागा ।।५/१२/५

और उनके पश्चात् सीताजी के मुख से निकला——

श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई ।
कही सो प्रगट होति किन भाई ।।५/१२/७

—"किसने इतनी मधुर कथा सुनाई, वह सामने क्यों नहीं आता ।" और तब हनुमानजी वृक्ष से कूद पड़े । माँ ने जब देखा तो "फिर बैठीं"—तुरन्त पीठ फेर लिया । हनुमानजी की ओर देखना भी पसन्द नहीं किया और कह दिया—

नर बानरहि संग कहु कैसे ।
कही कथा भइ संगति जैसे ।।५/१२/११
कपि के बचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिस्वास ।
जाना मन क्रम बचन यह, कृपासिन्धु कर दास ।।५/१३

—पहले कथा पर विश्वास, पर कथावाचक पर अविश्वास हो गया था । और अब कथावाचक पर विश्वास हुआ तब अचानक प्रभु के स्वभाव पर सन्देह हो गया । वे हनुमानजी से कहने लगीं—

कोमल चित कृपालु रघुराई ।
कपि केहि हेतु धरी निठुराई ।।५/१३/४

—"हमारे प्रभु तो पहले बड़े कोमल स्वभाव के थे, अब इतने कठोर कैसे हो गये ।" भक्ति सुरक्षित कब रहेगी ? भक्ति तो हम तभी कर पाएँगे जब हमें भगवान में कोमलता दिखाई देगी । यदि हमें भगवान में कठोरता दिखाई देने लगे तो उनके प्रति राग और प्रीति हो ही नहीं सकती, तो हनुमानजी ने कहा कि माँ क्षमा करना, मैं धृष्टता कर रहा हूँ, आप तो प्रभु से प्रेम करती हैं न ! बोलीं—हाँ, करती हूँ । तो हनुमानजी ने कहा—

जनि जननी मानहु जियँ ऊना ।
तुम्ह तें प्रेम राम के दूना ।।५/१३/१०

--"बस माँ, आप उनसे जितना प्रेम करती हैं, उससे दूना प्रेम वे आप से करते हैं।" यह सुनकर श्री सीताजी को भगवान के स्वभाव के प्रति विश्वास तो हो गया, पर उन्होंने एक बहुत सुन्दर प्रश्न किया। ज्ञान के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण बात है, स्वरूप की स्मृति। इसलिए उन्होंने हनुमानजी से पूछा कि हनुमान, प्रभु तो अनन्त ऐश्वर्य-शाली हैं, अनन्त शक्तिशाली हैं, अनन्त सामर्थ्यवान हैं। तो फिर वे रावण को मारकर मुझे ले क्यों नहीं जाते? तो स्वभाव में तो कोई बदलाव नहीं आया पर प्रभाव में तो कुछ न कुछ कमी आ गई न? क्या पहले जैसी सर्व-समर्थता अब उनमें नहीं रह गयी? तब हनुमानजी ने देखा कि स्वभाव का संकट मिटा तो अब प्रभाव पर संकट आ पड़ा। उन्होंने तुरन्त माँ से कहा कि प्रभाव भी ज्यों का त्यों है, पर प्रभु के सामने एक समस्या है--

तुव वियोग-संभव दारुन दुख
बिसरि गई महिमा सुबान की। गीतावली ५/११

--आपके वियोगजन्य दुःख में वे इतने डूब गये हैं कि उन्हें अपने बाण की महिमा का स्मरण नहीं रहा। प्रभाव है पर प्रभाव की याद नहीं है। यहाँ पर गोस्वामीजी ने बड़ी दार्शनिक बात कही कि स्मृति में ही सुख है। कोई व्यक्ति चाहे वह कोई भी क्यों न हो, अपने स्वरूप की स्मृति न रहने पर समग्र रूप से सुखी नहीं हो सकता। तो माँ ने कहा बस, अब तुम्हें क्या करना है यह मैं बता देती हूँ। तुम जाकर--

तात सक्रसुत कथा सुनाएहु।
बान प्रताप प्रभुहि समुझाएहु ॥५।२६।५

—"जाकर उन्हें जयन्त की कथा सुनाना और उन्हें स्मरण दिलाना कि उनकी बाणों में कितना सामर्थ्य है ।" हनुमानजी जब भगवान के बाणों की महिमा बखान कर रहे थे—

राम बान रवि उएँ जानकी ।
तम बरूथ कहँ जातुधान की ।।५।१५।२

—"हे जानकीजी, रामबाण रूपी सूर्य का उदय होने पर, राक्षसों की सेना रूपी अन्धकार कहाँ रह सकता है ?" तब माँ बोली, "मुझे क्या सुना रहे हो, उन्हें सुनाना । मैं सुनकर क्या करूँगी ? मैं तो जब प्रत्यक्ष देखूँगी, तभी मानूँगी ।"

हनुमानजी के लंका से लौट आने के बाद उनसे सीताजी का दुःख सुनकर भगवान राम रोने लगे । यह स्वरूप की विस्मृति है । हनुमानजी भगवान के आँखों में आँसू देखकर तुरन्त उन्हें स्वरूप की स्मृति दिलाते हुए बोले—

केतिक बात प्रभु जातुधान की ।
रिपुहि जीति आनिबी जानकी ।।५।३१।४

—महाराज, इन राक्षसों को नष्ट करना क्या आपके लिये कोई कठिन कार्य है ? जब आप निश्चय कर लेंगे तो क्या इन राक्षसों को नष्ट करने में कोई विलम्ब होगा ? भगवान राम को अपने स्वरूप की स्मृति आयी और प्रभु ने तुरन्त सुग्रीव से कहा—

अब विलम्बु केहि कारन कीजे ।
तुरन्त कपिन्ह कहुँ आयसु दीजे ।।५।३३।७

इस प्रकार हनुमानजी ने एक ओर भक्ति का संशय दूर करके उन्हें विश्वास प्रदान किया और ज्ञान को स्वरूप

की स्मृति दिलाई । केवल वैराग्य ही संकट से बच गए थे, पर लंका के रणांगण में वे भी संकट में पड़ गये । मेघनाद ने लक्ष्मण को मूर्छित कर दिया था । यह मेघनाद है काम । काम को गोस्वामीजी वात कहते हैं । अध्यात्मिक सन्दर्भ में रावण की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—

मोह दशमौलि तद्भात अहंकार
पाकारिजित काम विश्रामहारी । विनय० ५८

इस लंका में मोहरूपी रावण; अहंकाररूपी उसका भाई कुम्भकर्ण और शान्ति को नष्ट करनेवाला कामरूपी मेघनाद है ।

मेघनाद के द्वारा लक्ष्मण का मूर्छित हो जाना मानो काम और वैराग्य के संघर्ष में वैराग्य का मूर्छित हो जाना है । पर वैराग्य काम के वशीभूत नहीं हुआ, इस बात को गोस्वामीजी ने बड़े सुन्दर ढंग से रखा । लक्ष्मणजी जब गिर पड़े तो मेघनाद बड़ा प्रसन्न हुआ कि मैं जीत गया और सोचा कि इनको उठाकर ले चलूँ, रावण के चरणों में भेंट कर दूं और कहूँ कि लो, जिस लक्ष्मण पर राम का इतना अधिक भरोसा था, वह आपके चरणों में है । लेकिन जब वह लक्ष्मण को उठाने की चेष्टा करता है तो इसमें असमर्थ हो जाता है और इसका तात्पर्य क्या है ? यह कि लक्ष्मण के रूप में वैराग्य भले ही मूर्छित हो गये हों, पर मूर्छित होकर भी वे मोह के चरण में जाने वाले नहीं, वे तो भगवान की ही गोद में जाने वाले हैं । उनके मूर्छित होने का अभिप्राय यही है कि उस समय वैराग्य सक्रिय नहीं है । पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह काम के वशीभूत हो गया हो । वशीभूत हो जाने का तात्पर्य तो यह है कि काम उसे जैसा चाहे नचावे, पर ऐसा होता

नहीं। काम चेष्टा करने पर भी उसे उठा तक नहीं पाता। तब लक्ष्मणजी को उठाकर भगवान के पास लाया कौन ?

यह कार्य हनुमानजी का है। यहाँ वैराग्य की दोहरी भूमिका है। एक लक्ष्मणजी हैं जो सिद्ध वैराग्य हैं और लीलाभूमि पर मूर्छित हैं और दूसरे हैं हनुमानजी साधना -वैराग्य, जो साधना भूमि पर वैराग्य की भूमिका प्रस्तुत करते हैं। "प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय"– हनुमानजी प्रबल वैराग्य हैं। हनुमानजी ने लक्ष्मणजी को उठा लिया–वैराग्य ने वैराग्य को उठा लिया।

लंका का युद्ध समाप्त हो जाने के बाद श्री राघवेन्द्र ने लक्ष्मणजी से पूछा– "अयोध्या से लेकर लंका तक तुमने बहुत लम्बी यात्रा की। इस सारी यात्रा में तुम्हें सबसे अधिक आनन्द कब आया ?" लक्ष्मणजी ने कहा–"महाराज जागते हुए तो मैंने बहुत सी यात्रा की। पर सोये सोये जो यात्रा हुई उसमें ही सबसे अधिक आनन्द आया।" —कब ? जब सन्त ने अपनी गोद में उठाकर मुझे आपकी गोद तक पहुँचा दिया तब। भगवान और सन्त का सम्बन्ध यही है। हनुमानजी लक्ष्मणजी को अपनी गोद में उठाकर ले गये और भगवान की गोद में रख दिया। लक्ष्मणजी बोले–"महाराज, कैसी विलक्षण थी वह यात्रा ! एक पग भी नहीं चलना पड़ा और आपकी गोद में आ गया तब मुझे एक नया सुख मिला। शेष के रूप में आपको अपनी गोद में सुलाने का सुख तो मिला था, पर आपकी गोद में सोने का जो सुख है, वह तो मुझे हनुमानजी की कृपा से ही मिला।" और इसके आगे भी औषधि लाने तथा लक्ष्मणजी को चैतन्य करने की सारी भूमिका

हनुमानजी सम्पन्न करते हैं। इस प्रकार से ज्ञान-भक्ति और वैराग्य के संकट का निराकरण हनुमानजी के द्वारा होता है। और यहाँ जो भूमिका हनुमानजी की है वही अयोध्या में श्री भरत का है। इसलिए भरतजी ने गुरु वशिष्ठ से कहा कि जब समाज काम, क्रोध, लोभ से ग्रस्त हो जाय उस समय क्या यह उचित होगा कि मैं सिंहासन पर बैठ जाऊँ? समाज में काम, क्रोध, लोभ की वृत्तियों को खुली छूट देकर क्या उन्हें शान्त किया जा सकता है? कैकेयी के इस लोभ और क्रोध को स्वीकार कर यदि मैं सिंहासन पर बैठ जाऊँ तो क्या समाज की इस समस्या का समाधान हो जाएगा। यदि मैं अपने जीवन में उन दोषों को स्वीकार कर लूं, तो क्या अयोध्या के लोग स्वस्थ हो जायेंगे? गुरु वशिष्ट ने पूछा––अयोध्या के लोगों के स्वस्थ होने का उपाय क्या है? तो उन्होंने यही कहा कि जिनके जाने से यह संकट आया हुआ है, उन्हें ही लौटा लाने की चेष्टा की जाय। इसका सीधा सा अभिप्राय यह है कि काम-क्रोध-लोभ जीवन में आये तो ज्ञान-भक्ति-वैराग्य जीवन से दूर हो गये। अतः जीवन में यदि ज्ञान-भक्ति-वैराग्य फिर से प्रतिष्ठित हो जाएँ, तो स्वस्थता आ जाएगी। श्री भरत ने यही उपाय बताया––

प्रातःकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं।२।१८२।२

–पुनः उन्हें ही लौटा लाना होगा। ज्ञान-भक्ति-वैराग्य को लौटा लाने की चेष्टा करो। काम-क्रोध-लोभ के स्थान पर ज्ञान-भक्ति-वैराग्य की पुनः प्रतिष्ठा के लिए श्री भरतजी समाज को लेकर भगवान श्री राघवेन्द्र के पास जाते हैं। भगवान श्री राघवेन्द्र ने मुस्कराकर श्री भरत को लौटा दिया। कह दिया कि नहीं भरत, इस

समय मेरी भूमिका से काम नहीं चलेगा। यह भूमिका तो अकेले तुम्हें ही पूरी करनी है। क्यों ? इसलिए कि हम तीनों के रहते हुए भी काम-क्रोध-लोभ आ गया तो इसका अर्थ तो यही है कि अब मुझसे भी बड़ा कोई चिकित्सक चाहिए। तो यह कार्य अब तुम्हारा है। और तब श्री भरत क्या करते हैं ? अपने चरित्र के द्वारा काम-क्रोध-लोभ को नष्ट कर उस पर विजय प्राप्त करते हैं। राज्य नहीं लेते, यह उनकी लोभ पर विजय है। मन्थरा को दण्ड से मुक्त कर देते हैं, यह उनकी क्रोध पर विजय है और नन्दी ग्राम में तपस्या करते हैं यह उनकी काम पर विजय है। स्वयं श्री भरत तो स्वस्थ हैं ही, पर अयोध्या का सारा दुःख-संकट इस काम-क्रोध-लोभ के कारण ही है। और इन पंक्तियों में गोस्वामीजी कह देते हैं—

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध, पित्त, नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौ तीनिउ भाई।
उपजइ सन्यपात दुखदाई ॥७।१२०।३१

—जब जीवन में दुःख आवे तो समझ लेना चाहिए कि कि काम-क्रोध-लोभ—इनमें से कोई न कोई दुर्गुण आ गया है। इन दुर्गुणों और दोषों पर विजय प्राप्त करके ही हम दुःखों से छुटकारा पाते हैं।

○

श्री चैतन्य महाप्रभु (१३)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बंगला में लिखित उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक रचना मानी जाती है। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ उसी का हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। –स.)

षष्ठ अध्याय

दक्षिण भारत में भ्रमण

विद्यानगर से प्रस्थान करने के पश्चात् चैतन्यदेव सेवक को संग लिए प्रसिद्ध तीर्थों व मठ-मन्दिरों का दर्शन करते हुए दक्षिण की ओर अग्रसर हुए। सर्वत्र ही वे विभिन्न सम्प्रदायों के भक्तों, पण्डितों, साधुओं एवं गृहस्थों से भेंट और वार्तालाप करके सबके भीतर भगवद्भक्ति का उद्-बोधन करते। सभी स्थानों पर उनके प्रभाव से अनेक लोगों की जीवनधारा बदल गयी। आचार्य शंकर के प्रभाव से जैन-बौद्धगण सनातन धर्म में लौट आये थे तथापि आलोच्य काल तक देश के विविध स्थानों में बौद्ध मठ विद्यमान थे। उन मठों में त्याग-तपस्या का भाव विशेष प्रबल न होने पर भी विद्याबुद्धि का परिवेश था। बौद्ध पण्डितगण कूट तर्क की सहायता से विपक्षियों को हरा-कर नास्तिकता का प्रचार करते थे। विद्यानगर से विदा होकर आन्ध्रप्रदेश के तीर्थों एवं प्रसिद्ध स्थानों का दर्शन करते समय एक बार चैतन्यदेव के साथ भी इसी प्रकार के बौद्ध पण्डितों से साक्षात्कार हुआ था। उन लोगों का चैतन्यदेव के साथ काफ़ी लम्बा शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें परास्त होने के बाद बौद्ध लोगों ने उनका मत अंगीकार कर लिया। उस अंचल के बौद्धों पर चैतन्य-

देव का विशेष प्रभाव हुआ था और क्रमशः वे लोग वैष्णव सम्प्रदाय में सम्मिलित होकर हिन्दू समाज में पूर्णतः विलीन हो गये । अब उनका पृथक् अस्तित्व बाकी नहीं रहा है ।

अनेक लोगों की ऐसी धारणा है कि दसनामी संन्यासी शिवभक्त और विष्णुद्वेषी हुआ करते हैं, परन्तु यह धारणा पूर्णतः भ्रम है । सनातन धर्म में परम्परा से ही सूर्य, गणेश, शिव, शक्ति और नारायण की उपासना प्रचलित है । आचार्य शंकर ने भारतवर्ष को बौद्ध प्रभाव से मुक्त करके पुनः उस प्राचीन श्रौत-स्मार्त धर्म की ही स्थापना की थी । उनके अनुगामी संन्यासी उसी मत का अनुसरण करते हैं । उनके परवर्ती काल में अन्य आचार्यों द्वारा शैव, वैष्णव आदि विशेष विशेष मार्ग एवं सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हुई । यद्यपि विद्वेषरहित इन आचार्यों की प्रबल इष्टनिष्ठा के फलस्वरूप ही इन पृथक् पृथक् प्रणालियों का प्रवर्तन हुआ था; तथापि कालदोष से क्रमशः वे वैष्णवधर्म, शैवधर्म, शाक्तधर्म आदि नामों से परिचित होकर साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण बने । फिर कालान्तर में उन समस्त सम्प्रदायों के भीतर भी अब कितने ही उपभेद दीख रहे हैं । यद्यपि वे सभी श्रुति-स्मृतियों की दुहाई देते हुए अपने को सनातनी कहते हैं, तथापि उनकी साम्प्रदायिकता वेदानुमोदित नहीं है । आचार्य शंकर द्वारा रचित स्तोत्रों में, समस्त तीर्थों के उद्धार में तथा विविध देवी-देवताओं के मन्दिरों एवं मूर्तियों की प्रतिष्ठा में उनके उदार हृदय का परिचय मिलता है । संन्यासि-चूड़ामणि श्रीकृष्णचैतन्य भारती के हृदय का भाव भी अपने सम्प्रदाय-गुरु श्रीमत् शंकराचार्य के ही पूर्णतः

अनुरूप था । प्रेम-भक्ति के मूर्त विग्रह चैतन्यदेव श्रीकृष्ण-मन्त्र के उपासक थे । वे सर्वत्र उन 'अद्वयज्ञानतत्त्ववस्तु व्रज के व्रजेन्द्रनन्दन' का ही विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति देखते हुए भावविभोर हो जाते और प्रत्येक विग्रह का समान रूप से भक्ति-श्रद्धापूर्वक दर्शन-पूजन-प्रदक्षिण आदि करते थे । यात्रा के दौरान दीख पड़ता था कि वे पथ चलते चलते भाव में विभोर होकर प्रेमसहित श्रीरामचन्द्र का स्मरण कर रहे हैं, "राम राघव राम राघव राम राघव पाहि माम्"; फिर श्रीकृष्ण का स्मरण करते हुए कह रहे हैं, "कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम्" और कहीं वे महादेव के मन्दिर में जाकर भक्तिपूर्वक पूजा कर रहे हैं ।

"दर्शन कर महेश का प्रभु आवेशमग्न हैं ।
डगमग करती देह, नहीं रह पाते स्थिर हैं ।।"*
"बिल्वपत्र प्रभु ने तोड़ा अपने ही हाथों ।
प्रेम विभोर हुए, फिर अंजलि दी शिवजी को ।।"

उसी भाव में जगदम्बा की मूर्ति का दर्शन करके वे भावविह्वल होकर स्तुति करने लगे ।

"पद्मकोट में भगवति-अष्टभुजा हैं देवी ।
वहाँ पहुँचकर प्रभु ने किया प्रणाम उन्हें भी ।।
तदुपरान्त वे माँ की बहु स्तुतियाँ गाते थे ।
उन्हें देखने शत शत जन दौड़े आते थे ।।"†

इस प्रकार विविध स्थानों में भगवान की विविध मूर्तियों का दर्शन करने के बाद वे सुप्रसिद्ध तीर्थ मल्लिकार्जुन पहुँचे, जो द्वादश ज्योतिर्लिंगों में एक है । शिव का दर्शन करके उनके मन में अतीव आनन्द का संचार हुआ ।

* चैतन्य भागवत के पद्य का भावानुवाद

† गोविन्ददास का कड़चा

वहाँ से अहोबल नामक स्थान में जाकर नृसिंह का दर्शन करने के पश्चात् वे सिद्धवट में स्थित श्रीरामचन्द्र के मन्दिर में जा पहुँचे। वहाँ पर श्रीरामचन्द्र के एक परम भक्त ब्राह्मण के घर भिक्षा पाने के बाद उन्होंने ब्राह्मण के विशेष अनु-रोध पर उन्हीं के यहाँ रात्रिवास किया। परमभक्त ब्राह्मण के साथ भगवच्चर्चा करते हुए बड़े आनन्दपूर्वक उनकी पूरी रात बीती। वहाँ से स्कन्दक्षेत्र जाकर भगवान स्कन्द का दर्शन करने के पश्चात् वे त्रिविक्रम (विष्णु) के दर्शन को त्रिमठ नामक स्थान को गये। त्रिविक्रम दर्शन के पश्चात् वे लौटकर पुनः सिद्धवट आये, क्योंकि वहीं से होकर मुख्य पथ जाता है। वहाँ आकर उन्होंने उन रामभक्त ब्राह्मण के घर ही विश्राम किया। श्रीरामचन्द्र के अनन्य भक्त ये ब्राह्मण रामनाम को छोड़ भगवान का अन्य कोई नाम नहीं लेते थे और पिछली बार उनके घर निवास के समय यह बात चैतन्यदेव के ध्यान में आयी थी। अतः इस बार ब्राह्मण के मुख से कृष्णनाम सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। कुतूहलवश चैतन्यदेव ने उनके इस भावान्तरण का कारण पूछा। भक्तिमान ब्राह्मण ने विनीत भाव से मधुर वाणी में कहा—

"रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दचिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते॥पद्मपुराण॥

—योगीगण अनन्त सच्चिदानन्द परमात्मा में रमण (क्रीड़ा) किया करते हैं, इसलिए 'राम' शब्द से परब्रह्म ही अभिप्रेत है। इसी प्रकार—

"कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निवृत्तिवाचकः।
तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

—श्रीमद्भागवत

–भूवाचक 'कृष्' धातु सर्वाधिक आकर्षक सत्ता है और 'ण' शब्द सर्वोपरि परमानन्द का द्योतक है। इन दोनों के सम्मिलन से निष्पन्न 'कृष्ण' पद के द्वारा सम्पूर्ण जगत् की मूल सत्ता, सर्वाकर्षक, परमानन्दस्वरूप परब्रह्म का ही प्रतिपादन होता है। अतः 'राम' और 'कृष्ण' ये दोनों नाम समान रूप से परब्रह्म के बोधक हैं, तथापि—

"इष्टदेव मम राम, नाम में हूँ सुख पाता।
सुख पाकर फिर उसी नाम को अविरल गाता॥
हुआ तुम्हारा दर्शन, कृष्ण नाम जब आया।
तब उसकी महिमा से, मम अन्तर भर आया॥"

तत्त्वज्ञानी ब्राह्मण के अन्तर का परिचय पाकर चैतन्यदेव को बड़ा आनन्द हुआ और उनके प्रति विशेष कृपाभाव रखने के कारण उन्होंने दो-चार दिन वहीं रहकर उनकी सेवा ग्रहण की। उन पर कृपा करने के बाद वे आगे चले और वृद्धकाशी पहुँचकर शिव-दर्शन किया।

इस प्रकार तीर्थादि का दर्शन और भगवद्भक्ति का प्रचार करते हुए धीरे धीरे उन्होंने सम्पूर्ण आन्ध्र प्रदेश का भ्रमण किया। उस अंचल में असंख्य तीर्थ और मन्दिर विद्यमान हैं। पैदल चलते हुए उन्होंने अपनी इच्छानुसार एक एक कर इन समस्त स्थानों का दर्शन किया। चैतन्य-देव के भ्रमण-वृत्तान्त में जिन स्थानों का उल्लेख है, वे अब भी विद्यमान हैं। किसी किसी स्थान के नाम में थोड़ा सा भेद दीख पड़ता है, जो सम्भवतः देशकाल के भद से उच्चारण वैषम्य के फलस्वरूप है। तत्पश्चात्—"महा-प्रभु त्रिपति त्रिमल्ल में आये और वहाँ वेंकट अंचल चतुर्भुज रूप देखा। त्रिपति पहुँच कर उन्होंने श्रीराम का दर्शन

किया और पहले रघुनाथ को ही प्रणाम और उनका स्तवन किया।"

त्रिपति अथवा तिरुपति भारत का एक प्रमुख तीर्थ है। वहाँ पर्वत के ऊपर एक अतीव निर्जन एवं रम्य स्थान में स्थित सुविशाल मन्दिर में भगवान विष्णु की अति मनोहर मूर्ति विराजित है। जिस पर्वत पर मन्दिर है, उसी को वेंकटाचलम कहते हैं। पर्वत के पाद प्रदेश में बसे नगर का तिरुपति नाम है। वहाँ के वृहत् मन्दिर में श्रीसीताराम का अति सुन्दर विग्रह प्रतिष्ठित है। भारत के सभी प्रदेश के लोग 'बालाजी' का दर्शन करने को जाते हैं। चैतन्यदेव तिरुपति और तिरुमलेश्वर का दर्शन करने के पश्चात् पन्ना में नरसिंह का दर्शन करते हुए सप्तमोक्ष क्षेत्र के कांचीपुर आये। कांची सनातन धर्म का, हिन्दू शिक्षा-संस्कृति का एक प्रधान केन्द्र है। शिवकांची में उन्होंने (एकाम्रनाथ) महादेव और वहाँ की पीठाधिष्ठात्री कामाक्षी देवी का दर्शन किया। तदुपरान्त विष्णुकांची में वरदराज का दर्शन करने के पश्चात् वे आसपास के और भी अनेक तीर्थों * में देवविग्रहादि का दर्शन करने के निमित्त इधर-उधर भ्रमण करने लगे। 'चैतन्यचरितामृत'कार ने लिखा है कि हमने यह भ्रमण—वृत्तान्त दूसरों से सुनी हुई बातों में से संकलित किया है, अतः इसमें पूर्वापर तारतम्य का ठीक ठीक पालन नहीं हो सका है। लेखन में आगे-पीछे हो जाने के बावजूद इसमें दो राय नहीं कि चैतन्यदेव ने उन समस्त स्थानों का दर्शन किया था।

* इस स्थान से आठ-नौ कोस दक्षिण-पूर्व में श्री रामानुजाचार्य का जन्मस्थान भूतपुरी विद्यमान है, जिसका वर्तमान नाम श्री पेरम्बदूर है।

अन्यथा वे समस्त नाम जो आज के भी बंगाली लेखक के लिए संग्रह कर पाना कठिन है, 'चरितामृत'कार के लिए तो नितान्त असम्भव ही होता । और यथासम्भव अनुसन्धान करके हमने देखा है कि पूर्वापर का व्यतिक्रम अति अल्प ही हुआ है । अस्तु, चैतन्यदेव और भी दक्षिण की ओर अग्रसर हुए । "गौरांगसुन्दर ने (कुम्भकोणम में) कुम्भकर्ण के मस्तक का सरोवर और शिवक्षेत्र में शिव को देखने के बाद विष्णु का दर्शन कर पापनाश करने को श्रीरंग क्षेत्र की यात्रा की । फिर कावेरी में स्नान और रंगनाथ का दर्शन, स्तवन एवं प्रणाम करके स्वयं को कृतार्थ माना । प्रेम के आवेश में वहाँ पर उन्होंने काफी गायन और नर्तन किया, जिसे देखकर सबका मन विस्मय-विमुग्ध हो गया ।"

इतने दिनों के पश्चात् चैतन्यदेव भारत के सबसे विशाल देवालय श्रीरंगम में पहुँचे । वह विशिष्टाद्वैती वैष्णव सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र है । इसी स्थान पर रामानुजाचार्य ने अपने जीवन का अधिकांश काल और अन्तिम भाग बिताया था । उनके पहले भी अनेक भक्तिमार्गी आचार्यों ने यहाँ पर निवास और तपस्या आदि करके इसके माहात्म्य में वृद्धि की थी । कावेरी में स्नान करने के पश्चात् चैतन्यदेव ने मन्दिर में जाकर श्रीरंगनाथ का दर्शन और उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया । तदुपरान्त मन्दिर की प्रदक्षिणा एवं पुनः साष्टांग प्रणाम कर स्तुति करने लगे । क्रमशः उनके भावावेग में वृद्धि हुई और बाह्यज्ञान का लोप हो गया । मनप्राण पुर्णतः रंगनाथ में तन्मय हो जाने के कारण उनकी देह में अत्यद्भुत् सात्त्विक विकार प्रकट हुए । उनका अपूर्व प्रेम एवं भावविह्वलता देखकर पुजारी

सेवक तथा दर्शकों के विस्मय का ठिकाना न रहा। भाव का उपशम होने पर सब ने इन असाधारण संन्यासी का ससम्मान स्वागत किया। श्रीरंगम में अनेक पण्डित एवं भक्त निवास करते थे। श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय के वेंकट भट्ट नामक'क भक्तिमान ब्राह्मण ने चैतन्यदेव के अलौकिक चरित्र पर मुग्ध होकर उन्हें अपने यहाँ भिक्षा ग्रहण करने का अनुरोध किया; फिर आदरपूर्वक उन्हें अपने घर ले जाकर श्रद्धापूर्वक भिक्षा प्रदान किया। वेंकट भट्ट की पत्नी, पुत्र, सगे-सम्बन्धी सभी भगवद्भक्त थे। चैतन्यदेव का दर्शन कर उन सभी के अन्तर में प्रगाढ़ भक्ति का उदय हुआ।

भट्ट-परिवार के हार्दिक आग्रह पर चैतन्यदव उन्हीं लोगों के घर पर 'आसन' लगाकर निवास करने लगे। वर्षाकाल आसन्न था, अतः भट्ट एवं वहाँ के अन्य भक्तों के अनुरोध पर श्रीरंगम क्षेत्र में ही उनका चातुर्मास्य * करना ठीक हुआ। वहाँ पर चैतन्यदेव प्रतिदिन प्रातःकाल कावेरी के पूत जल में स्नान करने के पश्चात् श्रीरंग-नाथ का दर्शन करने जाते थे। मन्दिर में दर्शन, प्रणाम, प्रदक्षिणा, स्तुति, प्रार्थना तथा जप-ध्यान करते उनका काफी समय बीत जाता था। फिर कभी कभी वे प्रेम-विभोर होकर नृत्य-गीत-कीर्तन आदि करते। उस समय उनका वह दिव्य भावावेश देखकर लोगों के विस्मय की सीमा न रहती। उनका अलौकिक जीवन एवं भाव-

*श्रावण, भाद्र, आश्विन और कार्तिक—ये चार महीने परि-व्राजकगण अपना भ्रमण स्थगित कर, किसी अनुकूल स्थान में रहकर भगवद्भजन किया करते हैं। आषाढ़ी पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक इन चार महीनों की गणना होती है।

भक्ति देखकर वहाँ के अनेक लोग उनकी ओर आकृष्ट हुए । रामानुजी सम्प्रदाय के विशिष्टाद्वैतवादी वैष्णवों के नेतृस्थानीय पंडित मंडली का श्रीरंगम में निवास था । अव-काश के समय चैतन्यदेव वहाँ के वरिष्ठ वैष्णवगण के साथ शास्त्र एवं तत्वज्ञान पर चर्चा किया करते थे । इस प्रकार क्रमशः वहाँ के अनेक लोगों पर उनका प्रभाव बढ़ा । वेंकट भट्ट अपने परिवार सह उनके विशेष अनुगत होकर उनकी सेवा-यत्न करने लगे । उनकी हार्दिक आकांक्षा होने पर भी इन कठोर संन्यासी ने एक ही गृह से प्रतिदिन भिक्षा लेना स्वीकार नहीं किया । रंगक्षेत्र में निवास के दौरान चैतन्यदेव एक एक दिन एक एक ब्राह्मण के घर भिक्षा माँगनेको जाते थे।

एक ब्राह्मण प्रतिदिन प्रातःकाल श्रीरंगनाथ के मन्दिर में जाकर अतीव भक्तिपूर्वक गीता पाठ करते थे । उनका अशुद्ध उच्चारण सुनकर लोग तरह तरह से उन पर कटाक्ष करते, परन्तु वे उस ओर बिल्कुल भी ध्यान न देते हुए, अपने भाव में तन्मय गदगद कण्ठ से पाठ किये ही जाते थे । पाठ के समय उनके नेत्रों से अविरल अश्रु प्रवाहित होते देख महाप्रभु ने पूछा, "सुनिए महाशय, आपको किस कारण इतना आनन्द होता है ?" विप्र ने उत्तर दिया, "मैं मूर्ख हूँ, शब्दों का अर्थ नहीं जानता, तथापि गुरु के आदेश पर शुद्ध-अशुद्ध जैसा भी हो गीता पढ़ता हूँ । मैं देखता हूँ कि अर्जुन के रथ में श्यामल सुन्दर कृष्ण बागडोर पकड़कर बैठे है और अर्जुन को हितकर उपदेश दे रहे हैं । यही देखते हुए मुझे आनन्द का आवेश हो जाता है ।" ब्राह्मण का कथन सुनकर चैतन्यदेव बड़े हर्षित हुए और बोले, "गीता पाठ में आपका ही अधिकार है, आप ही ने गीता का सार-मर्म समझा है ।"

श्रीरंगम के भक्तगण एकमात्र श्रीमन्नारायण के विग्रह की ओर ही आकृष्ट थे। चैतन्यदेव ने वहाँ श्रीकृष्ण के रूपमाधुर्य एवं मधुरभाव के सारतत्त्व की व्याख्या कर उन लोगों को मोहित कर लिया। उन्होंने वहाँ के लोगों को समझाया, "ईश्वर एक हैं और वे भक्त के ध्यान के अनुरूप हो जाते हैं, एक ही विग्रह विविध रूप धारण करते हैं।" * चैतन्यदेव के सान्निध्य के फलस्वरूप वेंकट भट्ट क्रमशः श्री राधाकृष्णतत्त्व एवं प्रेमभक्ति का ज्ञान पाकर अतीव आनन्दित हुए।

वेंकट भट्ट के एक तरुण पुत्र का नाम गोपाल था। गोपाल बुद्धिमान और विद्वान् थे। वे चैतन्यदेव के आकर्षण में आकर सर्वदा छाया के समान उनके साथ लगे रहते तथा प्राणपण से उनकी सेवा आदि करते। चैतन्यदेव का भी गोपाल के प्रति बड़ा स्नेहभाव था और उन्हें योग्य अधिकारी समझकर उन पर उन्होंने विशेष कृपा भी की थी। उनके साहचर्य से गोपाल क्रमशः उच्चस्तरीय प्रेम-भक्ति तथा साधना प्रणाली से अवगत हुए। गोपाल चैतन्य-देव के प्रति इतने ही मुग्ध हो गये थे कि जब चातुर्मास्य के अन्त में महाप्रभु श्रीरंगम से विदा होने लगे तो वे भी गृह त्यागकर उनका संगी होने को उद्यत हुए। चैतन्यदेव ने उन्हें काफी समझा-बुझाकर शान्त किया और आश्वासन देते हुए बोले "जब तक मातापिता जीवित हैं, घर में रहकर उनकी सेवा और भगवद्भजन करो; बाद में संसार त्याग करना।" गोपाल भट्ट ने चैतन्यदेव के उपदेशा-नुसार ही अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह किया था एवं

*मणिर्यथा-विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः।
रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः॥ (नारदपंचरात्र)

अपने जनकजननी के स्वर्गवास के पश्चात् वृन्दावन में श्रीरूप-सनातन के साथ रहकर चैतन्यदेव प्रवर्तित भक्ति-मार्ग का प्रचार किया था। गौड़ीय वैष्णवधर्म के प्रधान आचार्य—छह गोस्वामियों में श्री गोपाल भट्ट भी एक हैं। वृन्दावन में श्री राधारमण के सेवक गोस्वामीगण गोपाल भट्ट के ही वंशज हैं। काशी दर्शन के समय चैतन्य-देव के साथ उनके पुर्नमिलन की कथा आगे वर्णित होगी।

श्रीरंगम में सुखपूर्वक चातुर्मास्य बिताने के बाद चैतन्यदेव ने भट्ट से विदा ली और रंगनाथजी को प्रणाम करके सेवक के साथ पुनः अग्रसर हुए। चलते-चलते क्रमशः वे ऋषभ पर्वत पर आ पहुँचे। वहाँ उन्हें पता चला कि श्रीमत् परमानन्द पुरी महाराज वहाँ चातुर्मास्य के उपलक्ष्य में एक ब्राह्मण के घर टिके हुए हैं। परमानन्द महाराज श्रीमत् माधवेन्द्र पुरी के शिष्य तथा श्रीपाद ईश्वर पुरी के गुरुभ्राता थे और उनके दिव्य जीवन, त्याग-तपस्या और ज्ञानभक्ति के बारे में चैतन्यदेव ने पहले से ही सुन रखा था। उन्होंने उक्त ब्राह्मण क घर का पता लगाया और वहाँ जाकर परमानन्द स्वामी की चरणवन्दना की। उनका दर्शन कर चैतन्यदेव के अन्तर में अतीव आनन्द हुआ। परमानन्दजी ने भी उनका परिचय जानकर उनका अतीव प्रीतिपूर्वक स्वागत किया। चैतन्यदेव भी उन्हीं ब्राह्मण के घर निवास करने लगे। उनके मधुर चरित्र एवं अलौकिक भावभक्ति का परिचय पाकर परमानन्द स्वामी का मन उनकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। वे चैतन्यदेव के प्रति बड़े ही स्नेह-प्रेम का भाव व्यक्त करने लगे। परमानन्दजी अत्यन्त उच्चकोटि के महात्मा थे। उनकी ध्यान-धारणा एवं उच्च अनु-

भूतियाँ देखकर चैतन्यदेव के अन्तर में दीर्घकल तक उनके साथ निवास करने की आकांक्षा जगी। वे अत्यन्त अनुनयपूर्वक बोले, "मेरी आपके पास रहने की इच्छा हो रही है। मुझ पर दया कर आप नीलाचल में पधारें।" चैतन्यदेव का आग्रह देखकर पुरीजी ने बताया, "मैं शीघ्र जगन्नाथ दर्शन को, फिर वंगदेश में गंगास्नान करने जा रहा हूँ, आप जब तक दक्षिण के तीर्थों का दर्शन कर पुरी लौटेंगे, तब तक मैं भी वंगदेश से पुरी लौट आऊँगा, फिर दोनों वहीं एकत्र निवास करेंगे।" पुरीजी का स्नेहस्पर्श पाकर चैतन्यदेव को बड़ा आनन्द हुआ। तीन रात एक साथ बिताने के बाद पुरीजी नीलाचल की ओर और चैतन्यदेव श्रीशैल के पथ पर चल पड़े। वहाँ पर शिवदुर्गा ब्राह्मण-ब्राह्मणी के वेश में विराजित हैं। चैतन्यदेव उनका दर्शन कर अतीव उल्लसित हुए।

श्रीशैल के पश्चात् उन्होंने कामकोष्ठीपुर (कण्डुकोणम) जाकर कामाक्षी देवी का दर्शन एवं उनका आशीर्वाद ग्रहण किया। तदनन्तर वे दक्षिण मथुरा (मदुरै) के मीनाक्षी देवी के मन्दिर में आये। मीनाक्षी देवी का मन्दिर अत्यन्त समृद्ध एवं खुदाई के कार्य से परिपूर्ण है। देवी का दर्शन, प्रणाम एवं प्रदक्षिणा के अनन्तर मन्दिर में निवास करते समय एक रामभक्त ब्राह्मण के साथ उनका परिचय तथा वार्तालाप हुआ। ब्राह्मण खूब श्रद्धाभक्ति के साथ उन्हें निमन्त्रित कर अपने घर ले आये। दोपहर हो जाने पर भी ब्राह्मण के घर में भोजन बनाने का कोई उद्योग नहीं दीख पड़ा। चैतन्यदेव ने विस्मित होकर ब्राह्मण से पूछा, "मध्याह्न होने को आया पर अभी पाक शुरू नहीं हुआ ?" विप्र ने कहा, "प्रभो, मेरा अरण्य में निवास है

और वहाँ पर पकाने की सामग्री मिलती नहीं । लक्ष्मण जब वन से अन्न, फल और शाक ले आयेंगे, तभी तो सीता पाक की व्यवस्था करेंगी ।" भावुक भक्त के अन्तर का भाव तथा उनकी उपासना प्रणाली समझकर चैतन्यदेव का हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो गया और थोड़ी देर बाद ब्राह्मण ने भोजन पकाकर बड़े यत्नपूर्वक चैतन्यदेव को भिक्षा दी। उस समय तीसरा प्रहर हो चुका था। चैतन्य-देव का भोजन हो गया, परन्तु ब्राह्मण कुछ भी ग्रहण किये बिना अतीव दुःखपूर्वक बैठे रहे। चैतन्यदेव ने विस्मित होकर उनके उपवास का कारण पूछा। भावुक ब्राह्मण ने बताया, "जगदम्बा सीता को रावण हरण करके ले गया। इसी दुःख में मेरी अब जीवन धारण करने की इच्छा नहीं, मैंने ठीक किया है कि बिना खाये देहत्याग दूंगा।" चैतन्यदेव ने ब्राह्मण को तरह तरह से समझाकर सान्त्वना दी और बोले, "सीता ईश्वर की प्रेयसी थीं, चिदानन्द-मूर्ति थीं, इन स्थूल इन्द्रियों में उन्हें देखने की शक्ति नहीं है। उनका दर्शन ही दुर्लभ है तो फिर उन्हें स्पर्श ही कौन कर सकता है ! उसने सीता की आकृति में केवल माया का ही हरण किया था।" काफी देर तक समझाने पर ब्राह्मण का मन थोड़ा आश्वस्त हुआ और उन्होंने भोजन किया।

उन्हें आश्वासन देने के बाद प्रभु ने वहाँ से विदा ली। फिर कृतमाला में स्नान करके वे दुर्वसेन आये। वहाँ उन्होंने रघुनाथ का दर्शन किया, तदुपरान्त महेन्द्र पर्वत पर जाकर परशुराम की वन्दना की। वहाँ से सेतुबन्ध आकर उन्होंने धनुस्तीर्थ में स्नान किया और रामेश्वर का दर्शन कर वहीं विश्राम किया। धनुष्कोटि भारत की

अन्तिम सीमा है। रामेश्वर से लंका की ओर पन्द्रह-सोलह मील लम्बा एक सँकरा भूखण्ड सड़क के समान समुद्र के भीतर तक गया है। उसके एक किनारे बंगाल की खाड़ी का गैरिक जल प्रबल वेग के साथ तरंगायित होता है और दूसरी ओर हिन्द महासागर की सुनील जलराशि उत्ताल लहरों के रूप में उठते हुए भीषण गम्भीर गर्जना करती है। परन्तु जहाँ दोनों का मिलन होता है वहाँ की अम्बुराशि शान्त और स्थिर है। उस उच्च भूखण्ड के एक किनारे स्थित धनुस्तीर्थ की अपूर्व शोभा देखकर चित्त क्षणभर के लिए विधाता की इस सृष्टिलीला पर विमुग्ध हो जाता है। इसके बाद भी वह सेतुमय सँकरा द्वीप समुद्र में काफी दूर तक चला गया है। श्रीरामचन्द्र ने जिस सेतु का निर्माण कर भारत को लंका के साथ जोड़ दिया था, यह उसी का अवशेष है।

सेतुबन्ध में धनुस्तीर्थ का दर्शन करने के पश्चात् चैतन्यदेव ने कई दिन तक रामेश्वर में विश्राम किया। दिन में समुद्रस्नान, हरपार्वती दर्शन, पूजापाठ, स्तव-प्रार्थना, प्रदक्षिणा-प्रणाम एवं नृत्यगीत करते और रात ध्यान-धारणा में बिताते हुए वे परम आनन्दपूर्वक रामेश्वर में निवास करने लगे। वहाँ उनका अनेक लोगों के साथ परिचय और वार्तालाप हुआ, फिर अनेक लोग उनका माहात्म्य समझकर उनके अनुगत भक्त हुए। भारत के सभी तीर्थस्थानों के देव मन्दिरों में शास्त्रों की पाठ, व्याख्या एवं धर्मचर्चा की प्रथा दीख पड़ती है। रामेश्वर में चैतन्यदेव एक बार विप्रों की सभा में कुर्मपुराण की कथा सुन रहे थे, जिसमें पतिव्रता का उपाख्यान चल रहा था। वहाँ व्याख्यान में उन्होंने सुना कि रावण 'माया-

सीता' को ले गया था । इस पर महाप्रभु के मन में बड़ा आनन्द हुआ । कुर्मपुराण की व्याख्या समाप्त हो जाने के बाद उन्होंने पाठक महोदय के साथ भेंट की । फिर ग्रन्थ के उक्त अंश की नयी प्रतिलिपि बनाकर पुस्तक में रख दी गयी और पुराने कुछ पृष्ठों को चैतन्यदेव ने लेकर अपने पास रख लिया । बाद में रामेश्वर से लौटते समय उन्होंने दक्षिण मथुरा (मदुरै) में उन रामभक्त ब्राह्मण के घर जाकर उन्हें वे पृष्ठ दे दिये । प्राचीन ग्रन्थ के पृष्ठ देखकर ब्राह्मण के मन में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं रही । यह जानकर उन्हें बड़ा आनन्द हुआ कि रावण माता जानकी की पवित्र काया का स्पर्श नहीं कर सका और मायासीता का हरण करके ले गया था । उन पर कृपा करके और वहीं रात बिताने के बाद चैतन्यदेव वहाँ से चल पड़े ।

अब वे पाण्ड्यदेश के ताम्रपर्णी में आ पहुचे और ताम्रपर्णी नदी के तट पर स्नान किया । मयत्रिपदी को देखकर वे विस्मयविभोर हो उठे । फिर उन्होंने चिवड़ातला तीर्थ में श्रीरामलक्ष्मण का, तिलकांची में शिवजी का, गजेन्द्रमोक्षण तीर्थ में विष्णु मूर्ति का, पानागड़ि तीर्थ में सीतापति का, चामतापुर में श्रीरामलक्ष्मण का, श्री-वैकुण्ठ में विष्णु, मलय पर्वत में अगस्त्य और कन्याकुमारी में देवी का दर्शन किया ।

मलय पवन का प्रान्त मलाबार पूर्वकाल में पाण्ड्यदेश के नाम से सुपरिचित था । पुण्यभूमि भारत के दक्षिणी छोर का भूभाग अन्तरीप के आकार में समुद्र गर्भ से उभरा हुआ है । देख कर ऐसा लगता है मानो जननी भारतभूमि समुद्र की गोद से निकली हैं और क्रमशः ऊपर उठती हुई

उत्तर की ओर कैलाश की ओर चली गयी हैं। वहीं पर माँ का प्रथम आविर्भाव हुआ है, क्या इसी कारण वहाँ उनकी कन्याकुमारी मूर्ति है? उस पुनीत स्थान का नाम कुमारी अन्तरीप है। जैसा वहाँ का दृश्य सौंदर्य से परिपूर्ण है, वैसे ही माँ का रूप भी भुवनमोहन है। एक बार भी कोई उन पंचवर्षीय क्रीड़ाचंचल परम सुन्दरी हास्यमय मूर्ति का दर्शन कर ले, तो उसे भूल नहीं सकता। मन्दिर के नीचे भू की अन्तिम सीमा पर समुद्रगर्भ में एक विशाल शिलाखण्ड जल से उभरा हुआ है। उस पर भगवती का पदचिह्न अंकित है। समुद्र की तरंगमाला उससे टकराकर शुभ्र फेनराशि का विस्तार करते हुए चारों ओर लुढ़कती रहती है। देखते ही ऐसा प्रतीत होता है कि देवी कुमारी अपनी मृदु मधुर हास्य से चारों दिशाओं को मुखरित करती हुई दिनरात समुद्र के साथ क्रीड़ा में व्यस्त है और उनका शुभ्र आँचल चारों ओर लहरा रहा है। उसी जगह पर पूजा-अर्चना के लिए एक छोटा सा मण्डप बना हुआ है। प्रातःकाल वहाँ पर बैठकर समुद्रगर्भ को रंजित करते हुए उदीयमान बालसूर्य की किरणछटा का अवलोकन किया जा सकता है और सन्ध्या को वहीं से हमें अस्ताचलगामी रवि की चारों ओर झलमलाती लोहित आभा के दर्शन होते हैं। किसी किसी ऋतु में वह शोभा विशेष मनमोहक हो जाती है। जगदम्बा कुमारी की मूर्ति एवं प्राकृतिक सुषमा को देख चैतन्यदेव के चित्त में अतिशय आनन्द का संचार हुआ। (क्रमशः)

●

क्या वैज्ञानिक प्रवृत्ति सम्पन्न होते हुए आध्यात्मिक होना सम्भव है ? (७)

स्वामी बुधानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक रामकृष्ण संघ के विशिष्ट संन्यासियों में थे। वे अपने सेवा-काल में अद्वैत आश्रम, मायावती के अध्यक्ष रह चुके थे और और अपने अन्तिम दिनों में रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली के प्रमुख थे। उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'मन और उसका निग्रह' विशेष उल्लेखनीय है। प्रस्तुत लेखमाला उनकी एक अन्य महत्वपूर्ण पुस्तक 'Can one be Scientific and yet Spritual ?' का हिन्दी रूपान्तर है। रूपान्तरकार स्वामी ब्रह्मेशानन्द, सम्प्रति रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में कार्यरत हैं। —स.)

१५. श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिकता : परीक्षा की कसौटी पर

ईश्वर के बारे में निःसन्दिग्ध होने के लिए श्रीराम-कृष्ण ने जिस प्रकार उनके साथ प्रयोग किये थे, उसी प्रकार उनके शिष्यों ने भी उनकी अनुभूतियों एवं उपदेशों का सत्यापन करने हेतु उनकी परीक्षा की थी।

जब श्रीरामकृष्ण दिव्योन्माद की अवस्था से गुजर रहे थे, तब उनके शरीर में कुछ बीमारियों के लक्षण दिखायी पड़, जिनका कोई सहज उपचार नहीं मिला। उनके दो हितैषियों ने उनको नीरोग करने के लिए एक थोड़े आपत्तिजनक उपाय का सहारा लिया, जिसने घटनाक्रम से श्रीरामकृष्ण के सम्पूर्ण कामजय एवं इन्द्रिय निग्रह की एक परीक्षा का रूप ले लिया था। इससे यह भी सिद्ध हो

गया कि पतिता नारी को भी जगदम्बा के रूप में देखना सम्भव है ।[1]

१. द्रष्टव्य : (क) श्रीरामकृष्ण लीलाप्रसंग; प्रथम खण्ड, तृतीय संस्करण, पृष्ठ २६०-६१
(ख) Life of Sri Ramakrishna, Advaita Ashrama, 1936, P.p. 88-89

दूसरी पुस्तक में घटना का वर्णन इस प्रकार दिया गया है—इस समय श्रीरामकृष्ण को एक कठिन परीक्षा से गुजरना पड़ा जिसकी योजना रानी रासमणि और मथुर बाबू ने कुछ नासमझी में, पर नेक इरादों से बनायी थी। वे श्रीरामकृष्ण की अस्वस्थता से अत्यन्त चिन्तित थे तथा उन्होंने सोचा कि सम्भवत: उनका ब्रह्मचर्य खण्डित होने पर कुछ लाभ हो। वे जानते थे कि ऐसा कोई भी प्रस्ताव रोषपूर्वक अस्वीकार कर दिया जाएगा। अत: उन्होंने श्रीरामकृष्ण को छलपूर्वक प्रलोभित करने की योजना बनायी। तदनुसार उन्होंने दो गणिकाओं को उन्हें प्रलोभित करने के हेतु दक्षिणेश्वर के उनके कमरे में भेजा। ज्योंही श्रीरामकृष्ण ने उन स्त्रियों को देखा, वे कातर हो माँ जगदम्बा के चरणों में आश्रय माँगने लगे। माँ का नाम सुनकर वे महिलाएँ लज्जित हो गयीं।

एक दूसरे दिन मथुर बाबू श्रीरामकृष्ण को कलकत्ते की सैर कराने के मिस मछुआ-बाजार के एक मकान पर ले गये जहाँ कई सुन्दर लड़कियाँ उनकी प्रतीक्षा कर रही थीं। वे श्रीरामकृष्ण को उनके साथ छोड़कर बाहर चले आये। श्रीरामकृष्ण में तत्काल बालवत् भाव का उदय हुआ, उनकी बाह्य चेतना का लोप हो गया और उस अवस्था में वे पवित्रता एवं आत्म संयम के मूर्त विग्रह जैसे प्रतीत हुए। इससे उन लड़कियों के मन पर मानो वज्रपात हुआ। उन्होंने अपनी गलती महसूस की और एक सन्त को प्रलोभित करने के दुष्परिणामों से भयभीत होकर वे उनसे क्षमायाचना करने लगीं।

समाधि अवस्था में श्रीरामकृष्ण पर किये गये एक अन्य प्रकार के परीक्षण का विवरण पाया जाता है, जो निम्नलिखित है—

"श्रीरामकृष्ण उठ कर नृत्य कर रहे हैं और गाना गा रहे हैं। भक्तगण भी उठे। श्रीरामकृष्ण बार-बार समाधि-मग्न हो रहे हैं। सभी उन्हें एकटक देख रहे हैं और चित्र-वत खड़े हैं। डा० दोकौड़ी समाधि कैसी होती है इसकी परीक्षा करने के लिए उनकी आँखों में उँगली डाल रहे हैं। यह देख कर भक्तों को विशेष क्षोभ हुआ।"[2]

भक्तों को क्षोभ होना स्वाभाविक था। लेकिन डा. दोकौड़ी ने परीक्षण द्वारा इस सत्य को प्रमाणित कर भावी पीढ़ी का उपकार किया है कि देहबोध का पूरी तरह अतिक्रमण कर देह को मृतवत् छोड़ समाधि में निमग्न होना और पुनः देह के स्तर पर लौट आना सम्भव है।

श्रीरामकृष्ण अपने शिष्यों को बारम्बार अपनी अनु-भूतियों की परीक्षा करने को कहते थे। एक बार उन्होंने नरेन्द्रनाथ से कहा, "जिस प्रकार महाजन पैसों को जाँचता है, उसी प्रकार तुम भी मेरी परीक्षा लो। जब तक पूरी तरह मेरी परीक्षा नहीं कर लेते, तब तक मेरी बात

कोलाहल सुनकर मथुर बाबू वहाँ आये और श्रीरामकृष्ण के सम्पूर्ण काम-जय के इस अद्भुत प्रमाण को देखकर स्तम्भित रह गये। वे जब शीघ्रतापूर्वक श्रीरामकृष्ण को वहाँ से हटाने लगे, तभी उन्हें अपने षड्यंत्र के क्रुद्ध पात्रों के उलाहनों की बौछार सहनी पड़ी। वे लज्जा से गड़ गए और कहने की आवश्यकता नहीं कि उनका श्रीराम-कृष्ण के प्रति आदरभाव कई गुना बढ़ गया।

२. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत (तृतीय भाग) १९८०, पृष्ठ ५७७

स्वीकार मत करना ।"[3] श्रीरामकृष्ण के अभूतपूर्व काँचन-त्याग का उनके देह, मन एवं स्नायु संस्थान पर ऐसा प्रभाव पड़ा था कि वे पैसे को छू तक नहीं पाते थे। लेकिन सन्देहवादी व्यक्ति यह कैसे मान ले कि यह दिखावा मात्र नहीं है ? अतः उनके प्रमुख शिष्य नरेन्द्रनाथ, जिन्होंने परवर्तीकाल में स्वामी विवेकानन्द के रूप में कहा कि आध्यात्मिकता की वैज्ञानिक परीक्षा होनी चाहिये, श्रीराम-कृष्ण के परम त्याग की सत्यता परखने को अग्रसर हुए। उनके जीवनीकार ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है—

"एक दिन जब श्रीरामकृष्ण कलकत्ता में थे, नरेन्द्र-नाथ दक्षिणेश्वर आये। कमरे में किसी को न पाकर उनके मन में श्रीरामकृष्ण के काँचन-त्याग की परीक्षा लेने की इच्छा हुई। इसलिए उन्होंने श्रीरामकृष्ण के बिस्तर के नीचे एक रुपया छिपा दिया और पंचवटी में ध्यान करने चले गए। कुछ समय बाद श्रीरामकृष्ण लौटे। ज्योंही उन्होंने बिस्तर का स्पर्श किया, वे पीड़ा से कराह कर पीछे हट गये। जब वे चकित होकर चारों ओर देख रहे थे, तभी नरेन्द्रनाथ भीतर आये और चुपचाप उन्हें देखते रहे। एक सेवक ने बिस्तर को उलट-पलटकर देखा और रुपया खोज निकाला। श्रीरामकृष्ण और उनके सेवक दोनों ही आश्चर्यचकित थे। श्रीरामकृष्ण कमरे के बाहर चले गये। बाद में जब श्रीरामकृष्ण को पता चला कि नरेन्द्र-नाथ ने उनकी परीक्षा ली थी, तब वे बड़े प्रसन्न हुए।[4]

यह हमारे लिए भी प्रसन्नता की बात है। क्योंकि इससे श्रीरामकृष्ण में सन्देह करने वाले को भी आध्यात्मिक

3. Life of Swami Vivekananda, 1949, P. 67
4. Life of Sri Ramkrishna, 1936, P. 348-49

घटनाओं का सम्मानजनक अध्ययन करने का आधार प्राप्त होता है। कारण यह है कि यहाँ पर धोखाधड़ी और काल्पनिक कथाओं को बड़ी सावधानीपूर्वक आध्यात्मिक घटनाओं से अलग कर लिया गया है। यह तथ्य कि त्याग स्नायु-संस्थान के लिए स्वचालित और स्वाभाविक बन सकता है, मानव के विकास की उन सम्भावनाओं को प्रदर्शित करता है जिनके विषय में आधुनिक मानव की धारणाएँ अस्पष्ट, अवैज्ञानिक तथा अलाभकारी हैं।

धर्म का प्रायोगिक अभ्यास करने तथा स्वयं की बार-बार अपने शिष्यों द्वारा सभी प्रकार की परीक्षाएँ करवाने के फलस्वरूप श्रीरामकृष्ण ने विज्ञान के विषय में अनभिज्ञ होते हुए भी यह प्रदर्शित कर दिया कि वैज्ञानिक होने के साथ ही आध्यात्मिक भी हुआ जा सकता है।

स्वामी विवेकानन्द ने विज्ञान का अध्ययन किया था तथा वे जीवन भर विज्ञान के अनुरागी रहे। श्रीरामकृष्ण के चरणों में उन्होंने पूरी तरह आत्मसमर्पण किया था और स्वयं को उनका चिरदास कहने में वे गर्व का अनुभव करते थे। और इसका एक कारण यह भी था कि उनके गुरुदेव ने आध्यात्मिक घटनाओं के प्रति उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आदर्श को पूरी तरह सन्तुष्ट किया था। बल्कि उन्हें यहाँ तक कहते सुना गया है कि उन्होंने विज्ञान भी श्रीरामकृष्ण से सीखा था।[5]

5. द्रष्टव्य:–Reminiscences of Girish Ghosh, २५ जुलाई, १८९७; बलराम बोस के भवन, कलकत्ता में श्रीरामकृष्ण के शिष्यों की मई १८९७ से अप्रैल १८९८ तक हुई बैठकों के वृत्तान्त की अप्रकाशित विवरण पुस्तिका।

श्रीरामकृष्ण ने बड़ी सावधानी से नरेन्द्रनाथ के वैज्ञानिक मन की देखभाल की। कभी-कभी वे उन्हें आध्यात्मिक घटनाओं के प्रति सही माने में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रोत्साहित करते थे। जब निर्गुण ईश्वर के प्रति यौवन की अदम्य निष्ठा के चलते नरेन्द्र सगुण-साकार ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार कर देते, तब श्रीरामकृष्ण उन्हें समझाते हुए कहते "बेटा, सत्य को सभी दृष्टिकोणों से एवं सभी रूपों में देखने का प्रयास करो।"[6] आध्यात्मिक गुरु की यह दुर्लभ सलाह विज्ञान के उन कट्टर अनुयाइयों के लिए एक चुनौती है जो आध्यात्मिक तथ्यों को पूरी तरह एवं सही ढंग से सत्यापन किए बिना ही अस्वीकार कर देते हैं।

श्रीरामकृष्ण की शिक्षा-पद्धति एवं नरेन्द्र जैसे शिष्य के बीच हुई विज्ञान तथा आध्यात्मिकता के संघर्ष एवं स्वीकृति की यह कहानी अत्यन्त रोचक है। इस आदान-प्रदान में नरेन्द्रनाथ सदा यह अनुभव करते थे कि बिना उनके पूछे ही श्रीरामकृष्ण उनकी वैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति कर देते हैं। यही नहीं, श्रीरामकृष्ण ने उन्हें यह भी बताया कि सभी चीजों का प्रत्यक्ष प्रमाण पाने के एक से अधिक उपाय भी हो सकते हैं। दिन में तारों के न दिखने का अर्थ यह नहीं है कि तारे हैं ही नहीं। यदि ब्रह्म का चित्र न लिया जा सके तो इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। खुली हुई तीक्ष्ण दृष्टि से कुछ वस्तुएँ दिखायी देती हैं। एकाग्र अन्तर्दृष्टि से कुछ दूसरी वस्तुएँ दिखायी देती हैं। इनमें यह आवश्यक नहीं है

6. Life of Swami Vivekananda, 1949, P. 63

कि एक प्रकार का दर्शन दूसरे प्रकार के दर्शन से कम सत्य हो ।

स्वामी विवेकानन्द की जीवनी में हम यह पढ़ते हैं कि किस प्रकार उन्हें अपनी पूरी तौर से सजग वैज्ञानिक जिज्ञासा वृत्ति के माध्यम से–सब कुछ ईश्वर ही है– इस इन्द्रयातीत सत्य को स्वीकार करना पड़ा था । देखने का अर्थ जानना है; और जानने का अर्थ विश्वास करना । इस तरह अद्वैत वेदान्त की सत्यता में स्वामी विवेकानन्द की वैज्ञानिक श्रद्धा का जन्म हुआ । अतः उनके लिए वह वैज्ञानिक ज्ञान के सदृश ही सत्य था ।[7]

---

७. स्वामी विवेकानन्द के जीवन की इस अभूतपूर्व घटना का अधिकांशतः उन्हीं के शब्दों में वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

श्रीरामकृष्ण ने एक दिन नरेन्द्रनाथ से अद्वैतवाद के जीव–ब्रह्म की एकतासूचक अनेक बातें कहीं । नरेन्द्र ध्यान से उन बातों को सुनने पर भी अच्छी तरह समझ न सके और उनकी बात समाप्त होने पर वे हाजरा महाशय के पास जा बैठे तथा उनके साथ उन बातों की विवेचना करते हुए कहने लगे, "क्या यह भी सम्भव है ? लोटा ईश्वर है, कटोरा ईश्वर है और जो कुछ दिखायी पड़ रहा है तथा हम सब भी ईश्वर हैं ?" इस विषय पर परिहास करते हुए दोनों जोर से हँस पड़े । श्रीरामकृष्ण उस समय भी अर्धबाह्य अवस्था में थे । नरेन्द्र की हँसी सुनकर वे बालक की तरह अपने पहनने की धोती को बगल में दबाये बाहर निकल आये और 'तुम लोग क्या कह रहे हो' कह कर हँसते हुए नरेन्द्र को छूकर समाधिस्थ हो गये ।

नरेन्द्रनाथ कहते थे, "उनके उस दिन के अद्भुत स्पर्श से मेरे भीतर क्षणभर में ही भावान्तर उपस्थित हो गया । स्तम्भित होकर सचमुच ही मैं देखने लगा—ईश्वर के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड में अन्य

कुछ भी नहीं है। वैसा देखकर भी मैं मौन रहा, सोचा—देखूँ कब तक ऐसा भाव रहता है। परन्तु वह भावावेश उस दिन बिलकुल भी नहीं घटा। घर लौट आया, वहाँ भी वैसा ही—जो कुछ देखा सभी ईश्वर हैं, ऐसा प्रतीत होने लगा। खाने बैठा, देखा अन्न, थाली, परसनेवाला और मैं भी उनके अतिरिक्त दूसरा नहीं। मैं दो-एक कौर खाकर स्थिर भाव से बैठा रहा। 'बैठा क्यों है, खा न !'—माँ के कहने के बाद होश आने पर मैं फिर खाने लगा। इसी तरह खाते-पीते, सोते-जागते तथा कॉलेज जाते समय वैसा ही दिखायी पड़ने लगा और सारा दिन न जाने कैसे उसी भावावेश में आच्छन्न रहा। रास्ते में चल रहा हूँ, गाड़ियाँ आ रही हैं, देखता हूँ, किन्तु आज इस डर से कि ये अपने ऊपर आ जायेंगी, हट जाने की इच्छा नहीं होती थी। ऐसा लगता था, जो वे हैं, मैं भी तो वही हूँ। हाथ-पैर सुन्न हो जाते थे और खाने से भी तृप्ति नहीं होती थी। ऐसा मालूम होता था मानो कोई दूसरा व्यक्ति खा रहा है। खाते-खाते कभी मैं लेट जाता था और कुछ देर के बाद उठकर फिर खाने लगता था। एक दिन इसी तरह बहुत खा गया, परन्तु उससे हानि कुछ भी नहीं हुई। माँ डरकर कहतीं, 'देखती हूँ, तुझे कोई रोग हो गया है।' कभी-कभी यह भी कहतीं, 'अब यह नहीं बचेगा।' जब वह आच्छन्न भाव कुछ घट जाता, तब सारा संसार स्वप्न के समान प्रतीत होता था। हेदुआ तालाब पर टहलते हुए किनारे-किनारे लोहे के घेरे की छड़ों पर सिर ठोक कर देखता कि वे स्वप्न की हैं या सत्य हैं। हाथ पैर के सुन्न हो जाने से कभी-कभी पक्षाघात हो जाने का डर लगता था। इस प्रकार कुछ दिनों तक उस अपूर्व भाव की आच्छन्नता से छुटकारा नहीं मिला। बाद में जब मैं स्वस्थ हुआ, तब समझ में आया कि यही अद्वैतज्ञान का आभास है। ज्ञात हुआ कि शास्त्र में इस विषय के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह मिथ्या नहीं है। इसके बाद से कभी मुझे अद्वैत तत्त्व के विषय में सन्देह नहीं हुआ। (श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, तृतीय खण्ड, १९८०, पृष्ठ १२०-२१)।

१६. स्वामी विवेकानन्द प्रवर्तित मानव की पूर्ण मुक्ति का अभिनव आदर्श

जीवन की वास्तविकताओं तथा प्रकृति का खुले मस्तिष्क से अध्ययन करने के बाद स्वामी विवेकानन्द इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानव के अर्थपूर्ण अस्तित्व के लिए उसके समक्ष बाह्य प्रकृति के नियंत्रण मात्र से कहीं अधिक व्यापक कार्य है। वे मानव जाति के समक्ष जीवन का एक अधिकतर साहसिक एवं व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं, जो मानव के पूर्ण स्वातंत्र्य के उपायों के रूप में धर्म और विज्ञान दोनों का ही आदर करता है। विज्ञान द्वारा प्रभावित युग में जीवन की समस्याओं के समाधान एवं आत्म-सन्तुष्टि की भावना को मुक्त करने के लिए स्वामी विवेकानन्द के इन उपदेशों से बेहतर निर्देश पाना कठिन होगा—

"मनुष्य तभी तक मनुष्य कहा जा सकता है जब तक वह प्रकृति से ऊपर उठने के लिए संघर्ष करता है। और यह प्रकृति बाह्य और आन्तरिक दोनों है। इस प्रकृति के भीतर केवल वे ही नियम नहीं हैं, जिनसे हमारे शरीर के तथा उसके बाहर के परमाणु नियंत्रित होते हैं, वरन् ऐसे सूक्ष्म नियम भी हैं, जो वस्तुतः बाह्य प्रकृति को संचालित करने वाली अन्तःस्थ प्रकृति का नियमन करते हैं। बाह्य प्रकृति को जीत लेना कितना अच्छा, कितना भव्य है। पर उससे असंख्य गुना अच्छा और भव्य है अभ्यन्तर प्रकृति पर विजय पाना। ग्रहों और नक्षत्रों का नियंत्रण करने वाले नियमों को जान लेना बहुत अच्छा और गरिमामय है; उससे अनन्तगुना अच्छा और भव्य है उन नियमों को जानना जिनसे मनुष्य के मनोवेग, भावनाएँ और इच्छाएँ नियंत्रित होती हैं। इस आन्तरिक मनुष्य पर विजय पाना, मानव

मन की जटिल सूक्ष्म क्रियाओं के रहस्य को समझना पूर्णतया धर्म के अन्तर्गत आता है ।"[8]

स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार धर्म का उद्देश्य बाह्य एवं अन्तःप्रकृति के नियमन द्वारा अपने अन्तर्निहित देवत्व को अभिव्यक्त कर 'मुक्त' होना है ।[9]

ऐसे भी वैज्ञानिक हैं जो आध्यात्मिक घटनावली की केवल इसलिए उपेक्षा करते हैं कि वे उसको जानने के लिए आवश्यक साधनाएँ करने को तैयार नहीं हैं । स्वामी विवेकानन्द ऐसे लोगों को 'सतही वैज्ञानिक' कहते हैं क्योंकि "यथार्थ अनुसन्धान के बिना कोई बात बिल्कुल उड़ा देना सत्यप्रिय वैज्ञानिक मन का परिचय नहीं देता ।[10]

फिर कुछ ऐसे धार्मिक लोग भी हैं जो विज्ञान एवं मानव जीवन में उसके महत्वपूर्ण स्थान को केवल इसलिए उचित सम्मान नहीं देते कि वे मानसिक रूप से अपने मन को वैज्ञानिक तरीके से अनुशासित करने को तैयार नहीं हैं । ये लोग, जिन्हें 'सतही आध्यात्मिक' कहा जा सकता है, यह नहीं समझ पाते कि यदि उनकी मान्यतानुसार सब कुछ भगवदिच्छा से होता है, तो सदियों से धार्मिक अंधविश्वासों पर विज्ञान द्वारा किये जा रहे आघात भी भगवदिच्छा से ही हो रहे होंगे ।

भगवान को औपचारिक रूप से स्वीकार न करते हुए भी यदि वैज्ञानिक, उस सत्य का अनुसन्धान कर रहा है जो स्वयं ईश्वर है, तो वह आध्यात्मिक ही है । मिस्टर

८. विवेकानन्द साहित्य, अद्वैत आश्रम, द्वितीय खण्ड सं. १९७२, पृष्ठ १९७-९८

९. वही, प्रथम खण्ड, १९७२, पृष्ठ ३५

१०. वही, पृष्ठ ३१

एकार्ट ने कहा है, "सत्य क्या है ? सत्य इतनी उदात्त वस्तु है कि यदि ईश्वर सत्य से विमुख हो जायँ तो मैं सत्य को स्वीकार कर ईश्वर को त्याग दूंगा ।"[11] इन सच्चे आध्यात्मिक पुरुष का एक अत्यन्त आत्मसन्तुष्ट वैज्ञानिक भी आदर करेगा ।

न तो 'सतही वैज्ञानिक' और न 'सतही आध्यात्मिक' लोग ही मानव जाति को जीवन की समस्याएँ सुलझाने का मार्ग दिखा सकते हैं । अब एक ऐसा काल उपस्थित हो गया है, जबकि अपनी आज की अत्यन्त पेचीदी एवं हतप्रभ कर देने वाली जटिलताओं से युक्त सर्वव्यापी समस्याओं का सामना करने के लिए हमें एक पूर्णरूपेण अभिनव चिन्तन शैली, नये यथार्थवाद, नये आदर्शवाद तथा और भी व्यापक मापदण्डों की आवश्यकता है ।

अमेरिकी विज्ञान प्रगति संघ की 'मानव-कल्याण में विज्ञान' विषयक समिति द्वारा प्रसारित 'विज्ञान की विशुद्धता' शीर्षक प्रबन्ध की चर्चा पहले की जा चुकी है । इसका उपसंहार करते हुए लिखा गया है--

"समाज को अपने ही हित में विज्ञान की स्वस्थता का न केवल आदर करना चाहिए, बल्कि उसे प्रोत्साहित भी करना चाहिए । बहुधा विज्ञान को समाज की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र समझा जाता है । ये सामाजिक माँगें कभी-कभी ऐसा दबाव डालती हैं, जिससे विज्ञान की स्वस्थता को क्षति पहुँचती है । समाज को और भी स्पष्ट रूप से यह जान लेना होगा कि ऐसे दबाव समाज की ही क्षति करते हैं तथा आधुनिक वैज्ञानिक शक्तियों की

11. Meister Eckhart, हार्पर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क और लन्दन, 1941, P. 240

गलत जानकारी के दुष्परिणाम अत्यन्त खतरनाक भी हो सकते हैं। यदि वैज्ञानिक इस स्वस्थता को और भी पुष्ट करना चाहें तथा यदि जनता समाज कल्याणार्थ विज्ञान की स्वस्थता को महत्व देना सीखे तो हम इस आशा के साथ विज्ञान के एक नये युग में पदार्पण कर सकते हैं कि वह मानव का समुचित कल्याण साधित करेगा।"[12]

यह है अति स्पष्ट भाषा में सद्विचारों का एक सुन्दर संकलन। लेकिन कठिनाई तो उपस्थित होती है इसके अन्तिम अंश के 'यदि' में।

क्या कोई विश्व संघ या वैज्ञानिक संस्था कभी असभ्य मानव के स्वार्थ, लोभ एवं संग्रह की प्रवृत्तियों को रोक सकती है ? यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही कल्याणार्थ स्वयं को सुधारने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

हम जो पहले कह आये हैं उसी को यहाँ पुनः दुहराना उचित होगा—समस्या की अभिव्यक्तियों में उलझे बिना उसके मूल में जाने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आज विज्ञान और धर्म की सहायता से सत्य तथा अपने चिन्तन एवं क्रियाक्षेत्रों की संरचना के प्रति व्यापक और गम्भीर दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। और इस प्रकार उस अखण्ड दर्शन के आलोक में मानव सभ्यता का पुनर्गठन कर लेना होगा।

अतः मानव को एक साथ ही अन्तःप्रकृति एवं बहिः-प्रकृति पर विजय पाने अर्थात् आध्यात्मिक वैज्ञानिक बनने

12. A Report of the AAAS Committee on Science in Promotion of Human welfare, 31 December, 1964 Pp. 44-45

के कार्य में लग जाना होगा। मानव सभ्यता की मानव से आज यह नवीन अपेक्षा है। इस अपेक्षा को हम कैसे पूरी कर सकेंगे ? जीवन के नवनिर्माण के लिए हमें मार्गदर्शन कहाँ मिलेगा ?

मानव जाति के एक महान आचार्य स्वामी विवेकानन्द ने, लगता है इस समस्या पर भलीभाँति विचार किया है। यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण के नाम पर एक संन्यासी संघ की स्थापना करते समय उन्होंने अपने अनुयायियों को विज्ञान और धर्म-ज्ञान दोनों के विकास एवं प्रसार का आदेश दिया था।

स्वामी विवेकानन्द के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक उपदेशों में से एक यह है कि युग की आवश्यकता के अनुसार हमें एक साथ ही सच्चा वैज्ञानिक और सच्चा आध्यात्मिक बनना होगा। अपने उपदेशों में वे इस समस्या का समाधान हमारे लिए बीज रूप में छोड़ गये हैं, जिसका आज के मानवीय चिन्तन एवं क्रियाकलापों के व्यापकतम क्षेत्रों में, श्रेष्ठतम ढंग से विकास करना हमारा कर्त्तव्य है।

(समाप्त)

○

आदि शंकराचार्य : भारत के निर्माता

स्वामी आत्मानन्द

भारत की विशिष्टता यह है कि जब भी उसके राष्ट्र-शरीर के किसी अंग में समन्वय-भावना का रक्त-संचार अवरुद्ध हो जाता है और विभेदकता एवं अलगाव के गत्यवरोध पक्षाघात की सृष्टि करने लगते हैं, तभी उसकी प्राण-शक्ति में एक अद्‌भुत स्फुरणा होती है । यह स्फुरणा एक महान् आध्यात्मिक मनीषी, लोकसंग्र ी महापुरुष अथवा युगान्तरकारी आचार्य के रूप में प्रकट होती है । ये महा-मानव अपने जीवन और कार्य के माध्यम से पृथकता के गतिरोधों को दूर करते हैं तथा राष्ट्र की शिराओं में पुनः सामासिकता के नए जीवन-रक्त का संचार करते हैं । आदि शंकराचार्य भारत के सांस्कृतिक इतिहास के एक ऐसे ही महामानव हैं, जिन्होंने अपने बत्तीस वर्षों के जीवनकाल में राष्ट्रीय जीवन के सर्वग्रासी पक्षाघात का निराकरण करते हुए सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और वैचारिक क्षेत्रों में वेदान्त-दर्शन के माध्यम से एकता और समन्वय की स्थापना की थी ।

शंकराचार्य भारतीय मानवता के प्रतीक पुरुष थे । वे विलक्षण शक्तियों से युक्त महान् मेधावान्, प्रखर तार्किक तथा अपार सहानुभूतिमय आचार्य थे और उन्होंने अपने मस्तिष्क की भागीरथी के उत्तोलन तथा प्रसार के माध्यम से अध्यात्म, संस्कृति एवं दर्शन के क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित किया था । उनका युग विरोधाभासों का युग था । वैचारिक क्षितिज पर जहाँ कर्मकाण्डी मीमांसक अनेकानेक क्रिया-अनुष्ठानों के माध्यम से असंख्य देवी-दवताओं की उपासना करते हुए धन, संतति, स्वास्थ्य तथा इहलौकिक व पारलौकिक सुखों की प्राप्ति में लगे हुए थे, वहीं तितिक्षामार्गी

देहदण्डन के द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति का प्रयास कर रहे थे। कर्मकाण्डी सुखवादियों ने जहाँ व्यक्ति को अधिकाधिक आत्मकेन्द्रित बना दिया था, वहीं तितिक्षामार्गियों ने उसे संसार का परित्याग कर निभृत अरण्य-गह्वर में स्वयं को विलोपित कर लेने की प्रेरणा दी थी। राजनीतिक दृष्टि से भी भारत अनेकानेक युद्धत्सु रियासतों और रजवाड़ों में विभक्त हो गया था। ऐसे सर्वग्रासी विशृंखलता के युग में आदि शंकराचार्य का अवतरण हुआ। उन्होंने युगीन अराजकता के निवारण के लिए उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र में निबद्ध समन्वयशील दर्शन का प्रचार किया तथा अस्तित्व की महत्ता, विचारों की सहचारिता एवं दिव्यता का उद्घोष किया। उनके व्यक्तित्व एवं कार्यों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन कहते हैं— "आदि शंकराचार्य एक अद्वितीय दार्शनिक तथा आचार्य थे। वे अत्यन्त सूक्ष्म मेधा से युक्त परम सहिष्णु महापुरुष थे। शंकर ने हमें सत्य से प्रेम करने की, विचार का सम्मान करने की तथा जीवन के उद्देश्य का साक्षात्कार करने की सीख दी। उन्होंने पुरातन अन्धविश्वासों को नष्ट तो किया, पर उन पर तीव्र प्रहार करके नहीं, बल्कि उससे भी अधिक संगत तथा अपेक्षाकृत अधिक आध्यात्मिक विश्वास का प्रतिपादन करके।"

आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व केरल के कालडी ग्राम में नम्बूदरी ब्राह्मण दम्पत्ति शिवगुरु और आर्यम्बा की सन्तान के रूप में जन्म ग्रहण करने वाले इस विलक्षण शिशु ने अत्यल्प काल में ही वेद-शास्त्रों पर अनुपम अधिकार प्राप्त कर लिया था। बाल्यकाल से ही उनके प्राणों में वह पुकार गूँजा करती, जो मसीहाओं, युगप्रवर्तकों और

लोकसंग्रही महापुरुषों को उद्बुद्ध करती है। इसी आह्वान ने उन्हें उनके महान उद्देश्य से परिचित कराया था और नर्मदा तट पर उन्होंने श्रीमत् गोविन्दपाद का शिष्यत्व स्वीकार करते हुए प्रव्रज्या ग्रहण की थी । सर्वप्रथम उन्होंने गुरु की आज्ञा से वाराणसी में विपक्षियों को शास्त्रार्थ में पराजित करते हुए वेदान्त-दर्शन को दृढ़ आधारों पर प्रतिष्ठित किया, तदुपरान्त एक परिव्राजक के रूप में उन्होंने आसेतु-हिमाचल अपनी दिग्विजय-यात्रा का समारम्भ किया । वे जहाँ भी गए, वहाँ उन्होंने अवैदिक और वेदविरोधी पण्डितों को परास्त करते हुए वेदान्त-दर्शन की श्रेष्ठता प्रतिपादित की। उनकी यात्रा भारत की सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक एकता की विजय-यात्रा थी । वह एक ऐसा महायज्ञ था जिसमें भारत के विभिन्न वैचारिक भेदों की आहुति के माध्यम से वेदान्त के समन्वयशील दर्शन की प्राणप्रतिष्ठा सम्पन्न हुई थी ।

वेदों को कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड में विभाजित किया गया है । आचार्य शंकर ज्ञानकाण्ड को श्रेष्ठ समझते थे क्योंकि कर्मकाण्ड इहलौकिक और पारलौकिक सुखों पर आधारित होने के कारण मात्र धर्म से सम्बन्धित होता है । कर्म से मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो सकती । वस्तुतः ज्ञान से ही ब्रह्मज्ञान सम्भव होता है तथा यही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है । जीवात्मा अज्ञान के कारण नानारूपात्मक जगत की वस्तुओं को सत्य समझता है । यही द्वैत-भ्रान्ति है, जिसका निराकरण ब्रह्मज्ञान के लिए आवश्यक है। शंकर सर्वोपरि ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार करते हैं, जो सत, चित और आनन्द स्वरूप है । संसार ब्रह्म का विकास नहीं है, बल्कि यह एक विवर्त मात्र है । संसार की प्रतीति

माया के कारण होती है। यद्यपि माया अनादि है पर वह नष्ट की जा सकती है। यद्यपि शंकर ज्ञान के कट्टर समर्थक थे, तथापि उन्होंने कर्म या भक्ति का खण्डन नहीं किया, अपितु यह माना कि निष्काम कर्म और भक्ति साधक को आत्मसाक्षात्कार में सहायक हो सकते हैं।

आचार्य शंकर में तलस्पर्शी सहिष्णता, विभिन्न दृष्टिकोणों को समझने की इच्छा तथा विचारों के मनन एवं शोधन की अपूर्व क्षमता थी। उनकी विवेचना-प्रणाली अपूर्व थी तथा इसी के माध्यम से उन्होंने बहुप्रचलित विरोधी विचारधाराओं का वेदान्तदर्शन के अन्तर्गत समायोजन किया था। प्रत्येक विचारधारा की विशिष्टता को अक्षत रखते हुए उनको समन्वित करना उनकी विचक्षण मेधा का परिचायक है। इसीलिए उन्हें 'षण्मतस्थापन-आचार्य' कहा गया है। उनके ब्रह्मसूत्र-भाष्य के आँग्ल रूपान्तरकार डाक्टर थिबाट ने लिखा है– "शंकर ने विभिन्न दर्शनों के विरोधों का सहज ही परिज्ञान कर लिया था। इसीलिए उन्होंने अपने दर्शन में ऐसा विरोध नहीं आन दिया। उनका दर्शन अन्य मतों की अपेक्षा अधिक नमनीय तथा समन्वयशील ही नहीं था, प्रत्युत उसके मूलाधार दूसरों की अपेक्षा उपनिषद की मान्यताओं के अधिक समीप थे। समस्त उपनिषदों को एक समग्र विरोधहीन दर्शन की परिधि में बांधना एक अत्यन्त कठिन कार्य था। किन्तु शंकर ने अपनी अदभुत मेधा से इसे सम्पन्न कर दिखाया।"

स्वामी शंकराचार्य के कृतित्व के स्पष्ट रूप से चार आयाम दिखाई देते हैं। प्रथमतः उन्होंने ब्रह्मसूत्र, बारह प्रमुख उपनिषद, गीता एवं विष्णुसहस्त्रनाम का भाष्य लिखा। द्वितीयतः उन्होंने वेदान्त-दर्शन की स्थापना की।

तृतीयत: उन्होंने काव्यात्मक पदों के द्वारा वेदान्त की शिक्षा दी और चतुर्थत: शिव, शक्ति तथा विष्णु के प्रति भक्ति-भावापन्न गीतों एवं स्तुतियों का प्रणयन किया। अपने कृतित्व के इन चारों आयामों के माध्यम से उन्होंने समूचे भारत का नवीन बौद्धिक कल्प उपस्थित किया था। इस अपौरुषेय कार्य को सम्पन्न करने के कारण ही उन्हें भगवान शंकर का अवतार माना जाता है। 'शंकर विजय' नामक ग्रन्थ में लिखा है—"महाशिव ने प्रशान्ति के माध्यम से आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान करने के लिए वट वृक्ष के नीचे दक्षिणामूर्ति का रूप धारण किया। अज्ञान के वन में भटकते हुए मनुष्यों को मुक्त करने के लिए तथा संसार की दावाग्नि से उत्तप्त लोगों का उद्धार करने के लिए प्रशान्ति के इस राजकुमार ने करुणा से भरकर अपने आसन का परित्याग कर दिया और वे शंकराचार्य के रूप में पृथ्वी पर विचरण करने लगे।"

शंकराचार्य एक ऐसे विश्वविजेता महापुरुष थे, जिन्होंने अपनी चिरविकसनशील आध्यात्मिकता, नव-नवोन्मेषी मेधा और गहनगर्भी सहानुभूति के माध्यम से भारतीय जनता की बुद्धि और हृदय पर अपने प्रेम और आध्यात्मिक आदर्शवाद के महान् साम्राज्य की स्थापना की थी। तथागत बुद्ध के समान ही उन्होंने भी एक ऐसी प्रणाली का प्रयोग किया था जो एक साथ लोगों की बुद्धि और भावना को प्रभावित करती है। यद्यपि वे महान बौद्धिक थे पर उनके अन्तराल में एक अत्यन्त भावुक भक्त का चिरसमर्पणशील काव्यात्मक हृदय भी धड़क रहा था। यही कारण है कि उन्होंने पाण्डित्यपूर्ण निगूढ़ दार्शनिक ग्रन्थों की रचना करने के साथ ही आत्मोद्‌बोधक, भक्ति-

परक गीतों एवं स्तुतियों का प्रणयन भी किया है । उनके कृतित्व के इसी पक्ष पर विचार करते हुए पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, "शंकराचार्य का कृतित्व विलक्षण है । सारा देश शकर के ग्रन्थों, भाष्यों तथा युक्तियों से बौद्धिक रूप से उद्‌बुद्ध हो उठा है । वे केवल ब्राह्मण जाति के ही महान नेता नहीं हैं, बल्कि उन्होंने आम जनता की कल्पना को भी आकर्षित किया है । अपनी महान मेधा के द्वारा महत्तर नेता बनना तथा इसके साथ ही लक्ष-लक्ष जनता और इतिहास को प्रभावित करना एक ही व्यक्ति के लिए एक असामान्य बात है । महान सैनिक तथा विजेता प्रायः इतिहास से हटा दिए जाते हैं । या तो वे लोकप्रिय होते हैं अथवा जनता की कुत्सा के पात्र । और कभी कभी वे इतिहास को मोड़ दिया करते हैं । हमारे महान् आध्यात्मिक नेताओं ने लक्ष-लक्ष जनता को प्रभावित कर उनमें नई प्रेरणा भरी है तथा यह कार्य आस्था की नींव पर सम्पन्न हुआ है । भावनाएँ उद्‌बुद्ध और जागरित की गई हैं । प्रायः मन और बुद्धि पर डाले गए प्रभाव नहीं टिकते । बहुधा लोग विचार से काम नहीं लेते और वे अपनी भावनाओं के अनुरूप सोचते और कार्य करते हैं । शंकर ने जनता के मन, बुद्धि और युक्ति को प्रभावित किया है । यह किसी पुरानी किताब में दबा अन्धविश्वास नहीं है । यह भी अप्रासंगिक है कि उनकी युक्ति सही थी या गलत । धार्मिक समस्याओं के समाधान की उनकी दृष्टि अत्यन्त प्रभावी थी तथा उन्होंने इसी प्रणाली से अपूर्व सफलता प्राप्त की थी । अत्यल्प काल में ही उन्होंने पूरे भारत में जो महान सफलता पाई थी उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सांस्कृतिक और वैचारिक तरंगें कितनी क्षिप्र गति से

देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल जाती है।"

श्री शंकराचार्य जीवन भर अक्लान्त भाव से वेदान्त के महान दर्शन को प्रचारित करते रहे। उन्हीं के प्रयासों के फलस्वरूप हम आज हिन्दू संस्कृति एवं हिन्दू धर्म के एकान्वित स्वरूप का दर्शन कर रहे हैं। दिनकर ने ठीक ही लिखा है—"शंकराचार्य का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि उन्होंने हिन्दुत्व को पौराणिक धर्म से मोड़कर उपनिषदों की ओर उन्मुख कर दिया। उन्होंने अपने सारे ग्रन्थ इस भाव से लिखे कि मनुष्य को ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त करने का मार्ग स्पष्ट दिखाई पड़े। उनका दूसरा महत्त्व यह है कि अद्वैत को प्रमुखता देते हुए भी उन्होंने विष्णु, शिव, शक्ति और सूर्य पर स्तोत्र लिखे, जिससे हिन्दुत्व में समन्वय लाने का उनका आग्रह प्रकट होता है। वे आध्यात्मिक सुधारक सन्त थे एवं शक्ति-मन्दिरों म बलि देने की प्रथा का उन्होंने अनेक स्थानों पर अवरोध किया था। बौद्ध संघों के अनुकरण पर, उन्होंने संन्यासियों के संघ स्थापित किए तथा भारत की भौगोलिक एकता को प्रत्यक्ष करने के निमित्त, देश की चार दिशाओं में उन्होंने चार पीठ भी बसाये, जो बदरिकाश्रम, द्वारका, जगन्नाथपुरी और श्रृंगेरी में अवस्थित हैं तथा जहाँ जाने की धार्मिक अभिलाषा प्रत्येक हिन्दू के मन में रहती आयी है।"

आचार्य शंकर ने देश भर में फैले धर्मविरोधी तत्त्वों का नाश करने के लिए आसेतु हिमाचल की यात्रा की और वे जहाँ भी गये, अपनी प्रकाण्ड बुद्धि और सूक्ष्म तर्क के बल पर वेदान्त-दर्शन की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने में समर्थ हुए। उनकी यात्रा भारत की सांस्कृतिक एवं आध्या-

त्मिक एकता की विजय यात्रा थी। वह एक ऐसा महा-यज्ञ था, जिसमें भारत के विभिन्न वैचारिक भेदों की आहुति के माध्यम से वेदान्त के समन्वयशील दर्शन की प्राणप्रतिष्ठा हुई थी।

(आकाशवाणी, भोपाल के सौजन्य से)

卐

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण (२)

स्वामी विजयानन्द

(१९९० ई. के अक्टूबर-दिसम्बर अंक में इस लेख का पूर्वार्ध प्रकाशित हुआ था। अब प्रस्तुत है उसका उत्तरार्ध। –स.)

निम्नलिखित घटना १९१९ ई. (?) में वाराणसी में घटी थी। मठ की परम्परा के अनुसार 'क्रिसमस इव' का दिन वहाँ ईसा मसीह की पूजा-भोग आदि के साथ मनाया जा रहा था। उक्त अवसर पर वहाँ महाराज, स्वामी शिवानन्द, स्वामी शुद्धानन्द तथा अन्य अनेक लोग उपस्थित थे, जिनमें मैं भी एक था। स्वामी ब्रह्मानन्द गम्भीर ध्यान में तन्मय थे, स्वामी शुद्धानन्द बाइबिल से पाठ कर रहे थे तथा एक अन्य स्वामीजी गिरीशबाबू द्वारा रचित दिव्य जन्मोत्सव का भजन गा रहे, महापुरुष महाराज उनके साथ तबले पर संगत कर रहे थे। भजन समाप्त होने के पूर्व ही सभी मौन हो गये। सबकी दृष्टि मन्दिर के गर्भगृह के सम्मुख बैठे महाराज पर लगी हुई थी। मैंने देखा कि उनका सिर थोड़ा आगे-पीछे हिल रहा था। कुछ काल तक सब कुछ शान्त रहा, फिर सभी वयस्क संन्यासी प्रणाम करके उठने लगे।

महाराज ने पूछा—"तारक दादा, आपने उन्हें देखा क्या ?"

स्वामी शिवानन्द ने उत्तर दिया—"हाँ महाराज, मैंने उन्हें आये हुए देखा।"

महाराज पुनः बोले—"हाँ, वे नीले परिधान में आये थे और मेरे साथ बातें कीं। सुधीर, क्या तुमने भी उनको देखा ?"

खेदपूर्वक स्वामी शुद्धानन्द बोले—"नहीं, परन्तु मैंने एक ऐसी मानसिक शान्ति का अनुभव किया, जैसा कि जीवन में पहले कभी नहीं हुआ था।"

साँझ हो जाने के थोड़ी देर बाद हमने तीन रोमन कैथोलिक पदारियों को बाहर टहलते देखा। महाराज ने मुझे आदेश देते हुए कहा—"जाओ बेटा, पादरी लोगों से पूछो कि क्या वे थोड़ा ठहरकर हमारे साथ प्रभु ईसा मसीह को चढ़ाया गया प्रसाद ग्रहण करेंगे!"

मैंने जाकर उनसे पूछा, परन्तु उनका नाराजगीपूर्ण उत्तर था—"हमारे ईसा मसीह को वहाँ सबके सामने रखने का तुम्हें क्या अधिकार है?"

मैंने कहा—"मुझे यह सब नहीं मालूम, परन्तु हमारे संघाध्यक्ष का अनुरोध मानकर क्या आप लोग हमारे प्रसाद में हिस्सा नहीं बटायेंगे?"

रुखाईपूर्वक 'नहीं' कहते हुए पादरीगण चले गये। लौटकर जब सारी बातें मैंने महाराज को बतायीं तो उन्होंने केवल इतना ही कहा—"भाग्यहीन, बेचारे!"

महाराज जब बेलुड़ मठ में रहने को आये तो अनेक ब्रह्मचारी उनके कमरे के बाहर के बरामदे में बैठकर ध्यान किया करते थे। उनमें से किसी किसी सौभाग्यशाली को महाराज के कमरे में ही उनके साथ ध्यान करने की अनुमति मिलती थी। मैं उस समय नया नया ही मठ में आया था, अतः मैं ध्यान के बारे में कुछ भी न जानता था और चूँकि तब तक मेरी दीक्षा नहीं हुई थी, मेरे लिये जप करना भी सम्भव न था। परन्तु एक चीज़ मुझे अब भी स्पष्ट रूप से याद है और वह यह कि मठ में सभी आनन्द-पूर्वक रहा करते थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो ध्यान

क समय महाराज की देह कठोर हो जाती थी, फिर बीच-बीच में उन्हें होठों पर जीभ फिराने की भी आदत थी।

एक दिन जब मैं महाराज के पास बैठा ध्यान कर रहा था तो अचानक ही मेरे मन में यह विचार आया कि यदि मैं इस पवित्र वातावरण में अपने मन को सांसारिक विचारों से भर जाने दूं, तो क्या होगा ? वह इच्छा इतनी तीव्र थी कि मैं तुरन्त ही सांसारिक चीजों का चिन्तन करने लगा। परन्तु मुझे पता चला कि मैं अधिक देर तक ऐसा नहीं कर पाता, एक प्रबल शक्ति इसमें बाधक होती है। तथापि कमरे से बाहर जाते समय मैंने संकल्प किया कि अगली बार और भी अधिक शक्ति के साथ प्रयास करूँगा। अगले दिन मेरे सांसारिक विचारों का तारतम्य डेढ़ मिनट तक चलता रहा, तदुपरान्त मेरे पाँवों में इतने जोर की पीड़ा होने लगी कि उसे सहन कर पाने में असमर्थ होकर मुझे कमरे के बाहर निकल आना पड़ा। महाराज जब अपने प्रातःकालीन भ्रमण के लिए नीचे उतरे तो उन्होंने मुझे बुलाया (प्रारम्भ से ही जब कभी हम अकेले रहते थे तो महाराज मुझे एक अंग्रेजी नाम से पुकारा करते थे और कहते कि तुम एक पाश्चात्य हो) और बोले—"देखो बेटा, यदि तुम मेरी परीक्षा ही लेना चाहते हो तो अकेले में लेना। अन्यथा दूसरे साधु लोग यदि यह बात जान गये, तो वे बड़े शक्तिशाली हैं और वे तुम्हारी अच्छी खबर लेंगे।"

एक दिन महाराज के साथ टहलते समय मैंने पूछा कि क्या आप मुझे दीक्षा देने की कृपा करेंगे। उन्होंने उत्तर दिया—"वह तो मैं तुम्हें पहले ही दे चुका हूं।" मैंने कहा—"परन्तु सबके सामने ही तो आपने मुझे सिर्फ

ठाकुर का नाम जपने को कहा है। यह भी कोई दीक्षा है?" महाराज ने अत्यन्त मृदु स्वर में कहा--"तुम ऐसे ही चलाते रहो। जब उचित समय आयेगा, तो मैं तुम्हें बुला लूँगा।"

वाराणसी में प्रवासकर बेलुड़ मठ लौटन क बाद, एक सुबह मैं महाराज के पास गया और उनसे पुनः दीक्षा के लिए प्रार्थना की। उन्होंने अपने स्वाभाविक स्वर में कहा--"मैं तुम्हें मन्त्र दूँगा।" और उन्होंने मुझे ईसा मसीह और बुद्धदेव के मन्त्र दिये। मैंने विरोध करते हुए कहा--"परन्तु ये तो मेरे आदर्श नहीं हैं।" इस पर महाराज बोले—"तुम्हारा मुझसे अधिक महापुरुष* से लगाव है, अतः तुम उनके पास जाकर दीक्षा के लिये अनुरोध करो।" मैंने उत्तर दिया—"महाराज, आप ध्यानपूर्वक सुन लीजिये, मैंने आपको ही गुरु के रूप में वरण कर लिया है। यदि आप मुझे दीक्षा न देंगे तो मैं ऐसे ही जीवन बिता दूँगा।" मेरी आँखों में आँसू आ गये थे, मैंने शीघ्रतापूर्वक उन्हें प्रणाम किया और चरण स्पर्श करके नीचे उतर आया।

दो दिन बाद स्वामी ओंकारानन्द, महाराज का सन्देश लेकर मेरे पास आये कि उन्होंने मुझे तुरन्त सारे काम छोड़कर आने को कहा है। यह सुनकर मैं उद्विग्न हो गया और जाकर उन्हें प्रणाम करने के बाद उनके आदेश की प्रतीक्षा में खड़ा रहा। मेरे जीवन में आये व्यक्तियों में सर्वाधिक प्रिय 'महाराज' अपनी मधुर वाणी में बोले--"बेटा, कल का दिन शुभ है। ठाकुर की कृपा से मैं तुम्हें (कल ही) दीक्षा दूँगा। गंगास्नान करके शुद्ध कपड़े

*स्वामी शिवानन्द।

पहनने के बाद ध्यानकक्ष के सामने चुपचाप बैठना। तैयारी हो जाने पर मैं तुम्हें बुला लूंगा।" अगले दिन मैं दीक्षा लेने वाले अन्य लोगों के साथ वहाँ पहुँच गया। प्रातःकाल प्रायः सात बजे महाराज ने अपनी राजकीय चाल में ध्यानकक्ष में प्रवेश किया। उनके पीछे-पीछे स्वामी निर्वेदानन्द ने भी जाकर उनके लिए पुष्प आदि सजा दिये और फिर मेरे समीप आकर मुझे अन्दर जाने को संकेत किया। अन्दर प्रवेश कर मैंने देखा कि महाराज पुलकित होकर बैठे हैं। उन्होंने तीन बार श्रीरामकृष्णदेव के चरणों में पुष्पांजलि दी और मुझे भी ऐसा ही करने का आदेश दिया। तदुपरान्त उन्होंने मुझे मन्त्र बताया और कई बार उसका उच्चारण कराने के बाद अपने को प्रणाम करने का आदेश दिया। मेरे तदनुरूप करने पर उन्होंने अपने हाथ मेरे सिर पर रख दिये और बाहर बरामदे में बैठकर यह मन्त्र जपने को कहा। इसके साथ उनका विशेष निर्देश था कि मैं पुनः बुलाये जाने तक आसन से न उठूँ। लगभग एक घण्टे के बाद उन्होंने मुझे अपने रहने के कमरे के बरामदे में बुलाकर पूछा कि मुझे अब कैसा महसूस हो रहा है। मैंने बताया कि यह मेरे जीवन का सर्वाधिक विचित्र अनुभव है। तब वे बोले—"बेटा, अब तुम्हें जो इच्छा हो पूछ लो, मैं बताऊँगा।" मैंने कहा—"महाराज, मैं आनन्द से इतना भरपूर हूँ कि कम से कम इस समय तो मेरे मन में कोई इच्छा नहीं है, समझ में नहीं आता कि आपसे क्या पूछूं।" उन्होंने पुनः कहा—"मन की गहराई में जाकर अपने आपसे पूछो कि क्या तुम मुझसे कोई कृपा चाहते हो।" मन को एकाग्र करते ही मुझे मालूम हो गया कि मैं क्या चाहता हूँ और मैं बोला—"महाराज, आप

कृपया मुझे ऐसा आशीर्वाद दें कि मैं सबसे प्रेम कर सकूँ।" वे गम्भीर होकर बोले—"तुम काफी कठिन चीज़ माँग रहे हो, परन्तु ठाकुर जो प्रेम की प्रतिमूर्ति है और जिनका प्रेम मुझे मिला है, उनकी कृपा से मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम अपनी मृत्यु के पूर्व ही सभी मनुष्यों से बिना किसी भेदभाव के प्रेम कर सकोगे।" उन्होंने खड़े-खड़े ही मुझसे ये बातें कहीं और मेरे शीश पर हाथ रखकर आशीष दिया। मैं उनके चरणों में पूर्णतः अवनत हो गया। फिर उन्होंने थोड़ी सी मिठाई मँगवाकर मुझे अपने सामने ही खाने को कहा।

मैं जो एक छिद्रान्वेषी, नैतिकतावादी और समालोचक था, यह देखकर मेरे विस्मय तथा आनन्द की सीमा न रही कि अगले सात दिनों तक मैं लोगों में केवल अच्छाइयाँ ही देख पाता था, बुराई की धारणा तक भूल चुका था।

एक बार मैं सीने की एक विचित्र पीड़ा से कष्ट भोग रहा था। छाती की इस ऐंठन से त्रस्त होकर जब मैं धरती पर लोटने लगता था, तब स्वामी ओंकारानन्द कभी-कभी मुझे जोर से दबा रखते, जिससे कहीं थोड़ी राहत मिलती थी। एक बार पीड़ा इतनी बढ़ी कि महाराज ने मुझे उठवा कर बिस्तर पर लिटा दिया और डाक्टर को बुला भेजा। परन्तु चिकित्सकगण भी इस रोग का निदान करने में असफल रहे। हृदय तथा फेफड़े अच्छी हालत में थे और दर्द ऐसे ही चलता रहा। महाराज आकर मेरे बिस्तर के एक किनारे बैठ गये और बोले—"बेटा, क्या तुम मरने से डरते हो? पर तुम मरोगे नहीं।" फिर उन्होंने बताया कि पीडा का कारण भाव है और उन लोगों

(ठाकुर के शिष्यों) के जीवन में भी ऐसा ही हुआ था; परन्तु दुर्भाग्यवश मेरे मामले में इसने शारीरिक रूप धारण कर लिया है।

एक बार मुझे एक स्वर्गीय दृश्य देखने का सौभाग्य मिला। ठाकुर के एक जन्मोत्सव समारोह के अवसर पर मुझे महाराज के कमरे की ओर जाने के रास्ते पर पहरा देने का काम सौंपा गया था। इस तरह की सावधानी आवश्यक थी, क्योंकि उस दिन मठ में तरह तरह के लोगों की बड़ी भीड़ हुआ करती थी। अचानक ही वहाँ मेरे पास उत्तम वेशभूषा में सज्जित एक महिला आयीं। नौ अन्य सेविका महिलाएँ भी उनका अनुसरण कर रही थीं। उनके चाल-ढाल में कुछ ऐसी खास बात थी, जिसके कारण मैं सावधानीपूर्वक उनकी ओर देखने लगा। उन्होंने अत्यन्त मृदु स्वर में मुझसे कहा—"बेटा, क्या तुम जाकर राखाल से कहोगे कि अन्नपूर्णा की माँ आई है? बस इतना ही कह देना।" पता नहीं क्यों मेरे मन में आया कि मैं रास्ता छोड़ कर किनारे हट जाऊँ। मैंने कहा—"जाओ माँ, जाओ।" उनके महाराज के कमरे की सीढ़ी के निकट पहुँचने के पूर्व ही, महाराज उनसे मिलने को प्रायः दौड़ते हुए चले आये और बारम्बार पूछने लगे—"क्या तुम वह (चीज़) लायी हो? क्या तुम वह लायी हो?" वे अपनी साड़ी का छोर खोलकर नारियल के लड्डू निकालने लगीं और महाराज बेसब्री के साथ प्रतीक्षा करते रहे। लड्डू मिलते ही महाराज ने उन्हें खाना शुरु कर दिया। उसी समय पता नहीं कहाँ से स्वामी शिवानन्द भी उधर आ निकले और कहने लगे—"महाराज, कृपया अकेले-अकेले मत खाइए। थोड़ा सा मुझे भी दीजिए न!" उन लोगों

का खाना समाप्त हो जाने पर वे वृद्ध महिला चली गयीं और महाराज लोग भी अपने-अपने कक्ष में चले गये।

अगले दिन मुझे सारी बात मालूम हुई। महाराज ने मुझसे पूछा—"कल तुमने देखा?"

मैंने उत्तर दिया—"जी, महाराज।"

वे बोले—"तुमने इसका तात्पर्य क्यों नहीं पूछा?"

मैंने कहा—"मुझे तात्पर्य जानकर क्या करना था। मैं तो देखने मात्र से ही सन्तुष्ट था।"

तदुपरान्त महाराज ने बताया कि अन्नपूर्णा की माँ ठाकुर की एक भक्त हैं। ठाकुर ने दर्शन देकर उन्हें मिठाई बनाकर महाराज के पास ले जाने का आदेश दिया था। ठाकुर ने महाराज को भी दर्शन देकर बता दिया था कि वे आनेवाली हैं।

मैंने पूछा—"परन्तु, स्वामी शिवानन्द इस बारे में कैसे जान गये?"

उन्होंने उत्तर दिया—"अरे, तारक दादा एक बड़े महात्मा हैं, सम्भव है उन्हें भी वहाँ दर्शन मिला हो।"

बेलुड़ मठ में महाराज प्रतिदिन मन्दिर के बाहर बेंच पर बैठकर हुक्का पीया करते थे। कुछ ही कश लेने के बाद वे समाधि की अवस्था में डूब जाते। मैंने ध्यान-पूर्वक देखा है कि इस अवस्था में उनका श्वास-प्रश्वास बिल्कुल ही रुक जाता था। थोड़ी देर बाद एक गहरी साँस लेकर वे कहते—"इतने सालों बाद भी ये लड़के ठीक-ठीक हुक्का सजाना नहीं जानते।"

महाराज के गुरुभाइयों का उनके प्रति जो प्रेम एवं सेवा का भाव था, वह अनुभूति का विषय है न कि वर्णन का। मुझे वाराणसी में देखी हुई एक घटना याद हो आती

है । महाराज और स्वामी तुरीयानन्द बाहर टहल रहे थे । यद्यपि शारीरिक ढाँचे की दृष्टि से उनमें काफी अन्तर था, तथापि वे एक अद्‌भुत जोड़ी के समान दीख पड़ते थे । महाराज लम्बे कद के थे और उनकी चाल तेज थी, जबकि हरि महाराज (तुरीयानन्दजी) अपेक्षाकृत छोटे कद के थे और थोड़ा भचककर चलते थे । अतः महाराज का साथ देने के लिए उन्हें प्रायः दौड़ते हुए चलना पड़ता था । इस प्रकार जब वे टहल रहे थे, उसी समय सूर्य की किरणें आकर महाराज के चेहरे पर पड़ीं और तुरीयानन्दजी ने महाराज को उनसे बचाने के लिये अपना छाता उठा लिया । इस पर उनके आपत्ति व्यक्त करने पर हरि महाराज ने उत्तर दिया—"और किसके लिए करूँगा ।" थोड़ी देर बाद जब महाराज शौचालय में गये. तो हरि महाराज पानी और तौलिया लेकर बाहर बैठे रहे और बाहर आने पर उन्होंने उनका हाथ धुला दिया ।

इस जीवन में महाराज के जैसा स्नेह मैंने और किसी भी व्यक्ति में नहीं पाया । वे प्रेम की घनीभूत मूर्ति थे, मानो वे प्रेम के अतिरिक्त और कुछ जानते ही न थे । इसी प्रेम का सर्वोच्च शिखर है अहैतुकी कृपा । वैसे तो महाराज श्रीरामकृष्णदेव के मानसपुत्र के रूप में सुपरिचित हैं, परन्तु मेरे लिए तो वे आश्रयदाता, पिता, मित्र और उपदेष्टा गुरु भी हैं । मैंने उनके समक्ष कितनी ही बार हठ किया है, परन्तु वे मुझसे शायद ही कभी नाराज हुए होंगे और यदि कभी उन्होंने नाराजगी दिखायी भी होगी तो उसके मूल में मेरे कल्याण की कामना ही तो थी ।

मानव वाटिका के सुरभित पुष्प

शरदचन्द्र पेंढारकर, एम.ए.

(१) श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्

एक बार यूनानी सम्राट् मिलिन्द ने महाज्ञानी भदन्त नागसेन से पूछा, "कहते हैं कि श्रद्धा से ज्ञान की प्राप्ति होती है, परन्तु श्रद्धा की क्या पहचान है ?"

नागसेन ने उत्तर दिया, "श्रद्धा की पहचान दो प्रकार से की जाती है—इससे एक तो मन में प्रसन्नता और साथ ही महती आकांक्षा उत्पन्न होती है ।"

मिलिन्द ने फिर पूछा, "भन्ते ! मन में प्रसन्नता उत्पन्न कर देना भला श्रद्धा की पहचान कैसे हो सकती है ?"

नागसेन ने समझाया, "महाराज ! जब श्रद्धा पैदा होती है, तो वह मार्ग की समस्त बाधाओं को दूर कर देती है और इससे चित्त निर्मल, आनन्दित और मुक्त हो जाता है । इसलिए महाराज 'चित्त में आनन्द होना' यही श्रद्धा की पहचान है ।"

राजा ने आग्रहपूर्वक कहा, "महाराज, ! कृपया इसे उपमा द्वारा स्पष्ट करें ।"

नागसेन ने कहा, "महाराज ! कल्पना कीजिए कि कोई चक्रवर्ती राजा अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ जाते हुए रास्ते में छिछली नदी को पार कर रहा हो और उनके चलने से नदी का पानी गँदला हो जाए । यदि उसी समय राजा अपने किसी सेवक से पीने के लिए पानी माँगे, तो सेवक को वह गँदला जल देने की हिम्मत नहीं होगी । परन्तु राजा यदि उस सेवक को जल में मणि डालने का आदेश दे तो इस प्रकार जल स्वच्छ हो जाता है । अब समझ लो कि पानी हमारा चित्त है, सेवक योगी

पुरुष है, जल का गँदलापन चित्त के क्लेष हैं और जल साफ करने की मणि ही श्रद्धा है। जिस प्रकार मणि डालते ही जल का मैल कट जाता है, उसी प्रकार श्रद्धा के आते ही बाधाएँ हटकर चित्त स्वच्छ एवं प्रसन्न हो जाता है।"

राजा ने पूछा, "पर मन में महती आकांक्षा पैदा कर देना श्रद्धा की पहचान कैसे हो सकती है ?"

भदन्त नागसेन ने बताया, "साधकगण दूसरे सन्तों के चित्त को मुक्त, सत्यशील अथवा अर्हत्-मार्ग पर आरूढ़ देखकर, स्वयं भी उस उत्तम पद को पाने की आकांक्षा करते हैं अर्थात् अप्राप्त पद की प्राप्ति के लिए प्रयत्न एवं परिश्रम करते हैं। महाराज! इसीलिए मन में महती आकांक्षा पैदा कर देना भी श्रद्धा की पहचान समझना चाहिए।"

"भन्ते ! इसे और स्पष्ट करें।"

"महाराज ! जैसे पहाड़ के ऊपर खूब जोर से पानी बरसे, जिसके फलस्वरूप पर्वत की कन्दराएँ, गुफाएँ, नाले आदि जल से भर जाएँ और नदी भी भरकर अपने दोनों तट को तोड़ती हुई आगे बढ़े। उसी समय यदि मनुष्यों की एक टोली नदी की गहराई न जानने के कारण उसके किनारे ही बैठी रहे और कोई अन्य व्यक्ति निडर हो, अपने आत्म-बल से तैरकर नदी को पार करे, फिर बाकी डरे हुए लोग भी उससे प्रेरणा पाकर पार जाने में सफल हों। तब वह मनुष्य मानो सन्त हैं और मनुष्यों की टोली मानो साधक हैं, जो सन्तों को मुक्त देखकर स्वयं भी उस पद को पाने की इच्छा और उसके लिए प्रयत्न करते हैं। तो मन में ऐसी आकांक्षा पैदा करना श्रद्धा की पहचान है।

(२) जिय हिंसा जग में बुरी

प्रसिद्ध जैन मुनि नेमिकुमार जब युवा थे, तो उनका विवाह हो रहा था। जब बारात का जुलूस ठाटबाट से निकल रहा था, तो दूल्हे महाशय अपनी जीवन-संगिनी राजुल की कल्पना के सुख-स्वप्नों में तन्मय थे। तभी पशुओं की करुण चित्कार ने उनके स्वप्न को भंग कर दिया। उन्होंने सारथी से पूछा, "खुशी के इस अवसर पर यह आर्तनाद कैसा ?" सारथी ने बताया, कुमार ! यह उन निरीह पशुओं की चित्कार है, जिनका आपके विवाह में आय हुए म्लेच्छ राजाओं के भोज के लिए वध किया जाएगा।

कुमार ने सुना तो उसके मुख से आह निकल गयी। उन्होंने सारथी को रथ रोकने का आदेश दिया।

दूसरे ही क्षण बरातियों ने देखा कि नेमिकुमार स्वयं ही पशुओं के बन्धन खोल रहे हैं। उन्होंने अपने हाथ का कंगन भी खोल डाला और वहाँ से निकल पड़े। अब से वे बाहर-भीतर की सारी गाँठें खोलकर परम-निर्ग्रन्थ हो गये—भोग से योग की ओर उन्मुख हो गये। उनकी देखा देखी, राजुल ने भी दुल्हन का श्रृंगार उतार दिया और श्वेत वस्त्र पहने, जीवन के चरम फल की प्राप्ति के लिए गिर-नार पर्वत की ओर बढ़ चली।

(३) धर्मे सत्यं प्रतिष्ठम्

मुसलमान फकीरों के भी दर्जे होते हैं, यथा कुतुब, गौस इत्यादि। एक बार हज़रत अब्दुल कादर जिलानी के पास कुछ लोग आये और बोले, "हमें एक कुतुब की जरूरत है।" हजरत ने कहा कि भेज देंगे। मगर जब कुछ दिन बीत जाने पर भी कोई कुतुब नहीं आया, तो

लोग पुनः हजरत जिलानी के पास आये इस बार भी उन्होंने पहले जैसा ही जवाब दिया ।

उसी रात एक चोर हज़रत के अस्तबल में आया और जब वह घोड़ी के दोनों अगले पैर खोलने लगा, तो अपने आप ही उसके पीछे के दोनों पैर बँध गये। जब उसने उनको खोला तो आगे के बँध गये। ऐसा कई बार हुआ। मगर उस चोर ने हार न मानी । उसे बड़ा क्रोध आया, और उसने निश्चय किया कि चाहे जो हो घोड़ी को वह ले ही जाएगा । वह घोड़ी के पैर खोलने का लगातार प्रयास करता रहा। मगर घोड़ी पूरी तरह से खुलती ही न थी ।

सबेरा हुआ और हज़रत उठे। हाथ-मुँह धोकर जब वे अस्तबल में आये तो उन्हें घोड़ी के पैर खोलता हुआ वह चोर दिखाई दिया । उन्होंने उससे पूछा, "भाई ! तुम कौन हो और यह क्या कर रहे हो ?" उसने जवाब दिया, "हज़रत मैं चोर हूँ। तुम्हारी घोड़ी को चुराने के इरादे से आया था। रात भर उसे खोलने के प्रयत्न में लगा रहा मगर बड़ी अजीब बात है कि सामने के पैर खोलता हूँ तो अपने आप पीछे के पैर बँध जाते हैं और पीछे के खोलता हूँ तो सामने के बँध जाते हैं। सारी रात बीत गई, लेकिन मैं इसे खोलने में कामयाब न हो सका।"

चोर की सच्चाई पर हज़रत बेहद खुश होकर बोले, "अच्छा तो मैं तुम्हारी मदद करता हूँ ।" उन्होंने ज्योंही उसकी तरफ देखा उसमें एकदम परिवर्तन आ गया। जब हज़रत ने घोड़ी के बंधन खोलकर उसे ले जाने को कहा तो वह सहमा उनके पैरों पर गिर पड़ा और बोला, "मैं बड़ा पापी हूँ। आप मुझे उबार लें । मुझे इस पेशे से नफरत हो

गई है और आप ही मुझे इससे मुक्ति दिला सकते हैं। हजरत ने जान लिया कि सत्य का अवलम्बन करनेवाला यह चोर ही सच्चा भक्त है और इसी से धर्म की रक्षा हो सकती है।

दूसरे दिन जब लोग आये, तो हजरत ने उस चोर को ही कुतुब कहकर उन्हें सौंप दिया।

(४) सब धन धूरि समान

लाहौर में दुलीचन्द नामक एक करोड़पति सेठ रहते थे। उन्हें अपनी धन-सम्पदा का बड़ा धमण्ड था। यह दर्शाने के लिए कि मैं बीस करोड़ की सम्पत्ति का मालिक हूँ, उन्होंने अपने निवास पर बीस पताकाएँ लगा रखी थीं।

एक बार जब उन्हें पता चला कि शहर के एक सराय में गुरु नानक आकर ठहरे हुए हैं, तो वे उनसे मिलने को गये। वहाँ उन्होंने गुरु नानक के चरणों में शीश नवाकर उन्हें स्वर्ण मुद्राओं की एक पोटली देते हुए कहा, "आपकी और क्या सेवा करूँ ?"

नानकदेव जान गये कि इस व्यक्ति को अपने धन का बड़ा अहंकार है। उन्होंने उसे एक सूई देते हुए कहा कि इसे अगले जन्म में वापस कर देना।" दुलीचन्द इसे गुरु का प्रसाद मानकर घर वापस लौट आये और सूई को उन्होंने पूजागृह में एक ओर रख दी। अकस्मात् उनके ध्यान में आया कि गुरु नानक ने इसे अगले जन्म में वापस करने को कहा है। मगर यह भला कैसे सम्भव हो सकता है ? मरते वक्त क्या सूई साथ में जा सकती है ? वे गुरु से पुनः मिलने तुरन्त सराय में गये और उनसे कहा, "अभी

थोड़ी देर पहले आपने इस सूई को पुनः अगले जन्म में वापस करने को कहा था। मगर यह कैसे सम्भव है? मरते वक्त तो मनुष्य खाली हाथ जाता है।"

गुरुदेव ने कहा, "दुलीचन्द ! जब मरते वक्त तू एक सुई तक को अपने साथ नहीं ले जा सकता, तब इतनी सारी सम्पत्ति कैसे ले जा सकेगा ?" ये शब्द सुनते ही दुलीचन्द के अन्तर्चक्षु खुल गये। वे घर लौट आये, अपनी सारी सम्पत्ति गरीबों व जरूरतमन्दों में बाँट दी और गुरुदेव के शिष्य बन गये।

○

बाह्य आचार

धान के भीतर जो चावल होता है उसी से अंकुर निकलता है, बाहर की भूसी से नहीं; तथापि केवल चावल बो देने से वह अंकुरित नहीं होता, पौधा उगाने के लिए धान ही बोना पड़ता हैं। फिर फसल हो जाने के बाद भूसी को निकालकर सिर्फ चावल ही उपयोग में लाया जाता है। इसी प्रकार धर्म के विकास तथा रक्षण के लिए आचार-विचार, विधि-नियम आदि आवश्यक हैं। ये मानो कवच के समान हैं, जिनके भीतर सत्य का बीज निहित रहता है। मनुष्य को तब तक बाह्य आचारों एवं नियमों का पालन करते रहना चाहिए, जब तक कि इनमें अन्तर्निहित सत्य-वस्तु की उपलब्धि न हो जाय।

—श्रीराम कृष्ण

माँ के सान्निध्य में (२३)

स्वामी ईशानानन्द

(प्रस्तुत संस्मरणों के लेखक माँ सारदादेवी के शिष्य थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' के द्वितीय भाग से इसका अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। —स.)

एक दिन मैं दोपहर को दो बजे कोयलपाड़ा पहुँचा। उस दिन बड़ी गरमी थी। माँ ने मिठाई और पानी लाकर देते हुए कहा, "बेटा, तेज धूप है, थोड़ा सुस्ता लो। शाम होने पर जाना। वे पूछने लगीं, "गोपेश कैसा है ? आज तुमने क्या खाया? क्या क्या पका था? "फिर बोलीं, "जाते समय थोड़ा फल और अनाज लेते जाना।" मैंने हँसते हुए कहा, "गोपेशदा के कहे अनुसार आज मैंने कच्चे केले और छिलके सहित आलू मिलाकर रसेदार सब्जी और आलू-भात बनाया था। पर अन्दाज नहीं होने से आठ-दस लोगों के लायक सब्जी बन गयी।" माँ सुनकर खूब हँसने लगीं। यही सब बातचीत हो रही थी कि आकाश में घने बादल छा गये। माँ कहने लगी, "आह, जरा वर्षा हो जाती तो धरती जुड़ा जाती।" कुछ देर बाद ही आँधी चलने लगी और ओले पड़ने लगे। माँ ने आनन्दित हो एक-दो ओले मुँह में डाले। किन्तु उसी से ठण्ड लगकर उन्हें बुखार हो आया। बाद में इसी बुखार ने बड़ा भयंकर रूप धारण किया था।

एक दिन रासबिहारी महाराज और मैं उनके बिस्तर के दो छोरों पर बैठे हुए थे। माँ हम लोगों की छाती और पीठ पर हाथ रखकर कहने लगी, "यहाँ इतनी लड़कियाँ हैं पर किसी का शरीर ठण्डा नहीं और लड़के होकर भी इनका शरीर कैसा ठण्डा है ? अहा, मेरा हाथ जुड़ा गया।" बुखार बढ़ने पर माँ पूजनीय शरत् महाराज की बड़ी याद

करने लगीं । समाचार पाकर शरत् महाराज डाक्टर कांजी-लाल आदि को लेकर आये और माँ के बिस्तरे के निकट गये । माँ शरीर की जलन से छटपटाते हुए उनकी ओर हाथ बढ़ाने लगीं । यह देख पूज्य शरत् महाराज अपने शरीर से कुर्ता उतारकर उनके बिस्तर पर बठ गए । माँ उनकी पीठ पर हाथ फरती हुई कहने लगीं , "अहा ! मेरी सारी देह शीतल हो गयी । शरत् का शरीर मानों पत्थर है ।" शरत् महाराज ने कहा, "माँ, देखिए हम लोग सब आ गये हैं, अब आप जल्दी अच्छी हो जाइए ।" माँ ने कहा, "हाँ बेटा, कांजीलाल के दवाई देने से ही अच्छी हो जाऊँगी ।" यह सुनकर शरत् महाराज का चेहरा प्रफुल्लित हो उठा । कुछ दिनों में ही बुखार दूर हो गया और माँ ने अन्न पथ्य ग्रहण किया । शरत् महाराज न एक दिन माँ स कहा, "माँ, इस बार अब आपको छोड़कर नहीं जाऊँगा । म आपको अपने साथ कलकत्ता ले जाऊँगा ।" माँ ने भी बिना किसी विशेष आपत्ति के कहा, "पर बेटा , एक बार जयरामवाटी जाकर यात्रा बदलकर आना होगा ।" शरत् महाराज इस पर राजी हो गये और जयरामवाटी की यात्रा का मुहूर्त देखने लगे ।

माँ की बीमारी के समय ही उद्बोधन में स्वामी प्रज्ञानन्द का देहान्त हुआ । बाद में एक दिन उस प्रसंग की चर्चा उठने पर माँ को पता चला कि उनकी बहन सुधीरा, जो कि निवेदिता स्कूल की संचालिका थीं, अन्त समय में उनके पास स्थिर भाव से बैठी रहीं । यह सुनकर माँ बोलीं, "अहा, यदि वह एक बार खुलकर रो पाती तो शोक थोड़ा कम हो जाता । देखना, वह कहीं बीमार न पड़ जाय । वैसे ही उस हृदय का रोग है ।"

इस प्रसंग में एक घटना का स्मरण हो रहा है। मैं तब माँ के पास जयरामवाटी में था। एक दिन कोयलपाड़ा से एक बूढ़ी बोझा ढोनेवाली के सिर पर कुछ सामान लदवा-कर मैं करीब दस बजे जयरामवाटी लौटा। बुढ़िया ने सामान उतारकर माँ को प्रणाम किया। माँ ने उससे कहा, "माँझी बहू, तुम बहुत दिनों से आयी क्यों नहीं ?" तब वृद्धा करुण स्वर में बोली, "माँ, आजकल बड़ी तकलीफ में हूँ। जगह जगह अनाज जुटाने के लिए भटकती फिरती हूँ। इसलिए जब सामान ले जाने के लिए बाबू लोग मेरी खोज करते हैं तो हर बार उनसे मिल नहीं पाती। कुछ दिन पहले मेरा जवान कमाऊ बेटा मर गया।"

माँ ने यह सुनकर कहा, "कहती क्या हो माँझी बहू !" कहते कहते ही उनकी आँखें छलछला आयीं। माँ की सहा-नुभूति पाकर बुढ़िया दहाड़ मारकर रोने लगी। माँ भी उसके पास बैठकर बरामदे की खूँटी से सिर टिकाकर जोरों से रोने लगीं। उनका रोना सुनकर घर की सब महिलाएँ दौड़ी आयीं और यह दृश्य देखकर दूर चुपचाप स्थिर होकर खड़ी रहीं। कुछ समय इसी प्रकार बीत गया। रुदन का वेग कम होने पर माँ ने धीरे धीरे नवासन की भाभी से नारियल का तेल लाने को कहा। तेल आने पर उन्होंने उसे वृद्धा के सिर पर लगाया और उसके आँचल में मुरमुरा और गुड़ बाँधकर बिदा करते हुए सजल नेत्रों से बोलीं, "फिर आना माँझी बहू।" माँ के इस करुणापूर्ण व्यवहार से वृद्धा को कैसी सान्त्वना मिली यह उसके चेहरे को देखकर मैं समझ पा रहा था।

शरीर में थोड़ी ताकत आने पर माँ ने निश्चित दिन पर शरत् महाराज आदि के साथ जयरामवाटी में पदार्पण

किया । गाँव के सब स्त्री-पुरुष माँ को देखने आये । कोई कोई कहने लगे, "माँ, हम लोगों ने आपको फिर से देख पाने की आशा त्याग दी थी ।" माँ ने कहा, "हाँ, बीमारी में खूब भुगतना पड़ा । शरत्, कांजीलाल ये लोग सब आ गये थे । माँ सिंहवाहिनी की कृपा से इस बार बच गयी । शरत् कलकत्ता चलने के लिए कह रहा है । तुम सब लोग यदि राय दो तो वहाँ शरीर को थोड़ा सुधार कर वापस लौटूँ ।" सभी ने आनन्द के साथ इसका अनुमोदन किया । सात-आठ दिन के पश्चात् माँ कलकत्ते के लिए रवाना हुईं ।

कुछ महीनों के बाद मैं बेलुड़ मठ में था । राधू बीमार थी । उसे कोई आवाज सहन नहीं होती थी । इसलिए माँ उसे लेकर निवेदिता स्कूल के छात्रावास में रह रही थीं । मैं प्राय: वहाँ जाकर उन्हें देख आता था । वे बड़ी चिन्तित थीं । एक दिन वे कहने लगीं, "इसे लेकर मैं कहाँ जाऊँ ? गाँव में निर्जनता तो होगी, पर डाक्टर-वैद्य की सुविधा नहीं मिल पाएगी ।"

स्वामीजी के उत्सव के दिन दोपहर में मैंने अकस्मात् सुना कि माँ कल सबेरे गाँव चली जा रही हैं । पूज्य शरत् महाराज की आज्ञानुसार माँ के साथ जाने के लिए मैं जल्दी जल्दी शाम को उद्बोधन पहुँचा । ऊपर पहुँचकर देखता हूँ कि माँ नारियल की रस्सियाँ इकट्ठा कर रही हैं । मुझे देखते ही वे बोलीं, "यह अगाध संसार लेकर गाँव जा रही हूँ । क्या तुम्हारा मेरे साथ जाना होगा ? वहाँ तो तुम लोग ही मेरे भरोसा हो।" मैंने प्रणाम करके कहा, "आप जब जैसी आज्ञा देंगी, वैसा ही होगा । आपके साथ जाने में भला आपत्ति किस बात की ?" माँ ने कहा, "ठीक है बेटा, यह रस्सी इत्यादि लेकर सब चीजों को ठीक से बाँध

डालो। अभी तक कुछ भी ठीक-ठाक नहीं हुआ है। मैं तुम्हारे आने की आशा में बैठी हुई रस्सियाँ इकट्ठा कर रही थी।" रात के ग्यारह बजे तक मैं माँ के साथ बिस्तर आदि बाँधता रहा। दूसरे दिन बड़े सबेरे उनके साथ रवाना हुआ।

बिष्णुपुर में तीन दिन विश्राम करने के बाद हम लोग छः बैलगाड़ियों में सवार होकर सबेरे निकले। आठ मील दूर जयपुर नामक गाँव के पड़ाव में भोजन पकाने की व्यवस्था हुई। भात की हण्डी चूल्हे से उतारते समय फूट गयी और भात तथा फेन चारों ओर फैल गया। हम लोग हक्के-बक्के रह गये। किन्तु माँ ने बिना कुछ विचलित हुए पुआल का एक गुच्छा लेकर फेन को भात से अलग कर दिया। बाद में हाथ धोकर सन्दूक से ठाकुर का फोटो निकालकर उन्होंने उसे एक किनारे बिठाया और साल के एक पत्ते में भात, सब्जी सजाकर ठाकुर को हाथ जोड़कर कहने लगीं, "आज बस इसी प्रकार जुट पाया है, जल्दी से गरम गरम थोड़ा सा खा लो!" हम लोग सब माँ की लीला देखकर हँसने लगे। यह देखकर वे बोलीं, "जहाँ जैसा वहाँ वैसा यह तो करना ही होगा। अब तुम लोग सब खाने के लिए बैठ जाओ।" हम लोग चारों ओर गोल पंक्ति में बैठ गये और माँ ने सबकी पत्तल में भात-सब्जी परोस दी और खुद भी लेकर एक किनारे पालथी मारकर बैठ गयीं। खाते खाते वे कहने लगीं, "अच्छा बना है।" भोजन से निवृत्त होकर हम लोग फिर गाड़ी पर सवार हुए और प्रायः ग्यारह बजे रात को कोयलपाड़ा पहुँचे।

इसी प्रसंग में मुझे और एक घटना का स्मरण हो रहा है। एक बार पूजनीय गौरी माँ का दर्शन करने जय-

रामवाटी जा रही थीं । कोयलपाड़ा से मुझे साथ लेकर वे शाम को रवाना हुईं । जयरामवाटी के निकट नदी के किनारे पहुँचकर वे सन्ध्या होने की प्रतीक्षा करने लगीं । सन्ध्या होने के पश्चात् वे माँ के घर के सामने के दरवाजे पर मुझे रुकने के लिए कहकर अन्दर गयीं और भिखारियों के स्वर में कहने लगीं, "माँ थोड़ी सी, भिक्षा दो ।" यह सुनकर छोटी मामी बाहर आकर बोली, "कौन है ?" गौरी माँ ने फिर कहा, "माँ, थोड़ी सी भिक्षा दो ।" छोटी मामी डरकर चिल्लाती हुई सीधी माँ के पास पहुँची । माँ उसकी चित्कार सुनकर धीरभाव से बाहर आकर दृढ़ स्वर में बोलीं, "कौन है रे ?" गौरी माँ उसी स्थान से कहने लगीं, "थोड़ी सी भिक्षा दो माँ, मैं भिखारिन हूँ । गौरी माँ के गले की आवाज पहचान कर माँ अँधेरे में ही बोलीं, "अरी, गौरदासी आओ, आओ । कब आई तुम ?" उसके बाद खूब हँसी-ठट्ठा होने लगा ।

कोयलपाड़ा में एक-दो दिन रुकने के बाद राधू को वह स्थान निर्जन होने से पसन्द आया । इसलिए माँ उसे लेकर छः महीने तक वहीं रहीं । जगदम्बा आश्रम से कुछ दूर एक दूसरे एकान्त मकान में राधू के रहने की व्यवस्था हुई । वहाँ तीन ओर कटीले बबूल का जंगल था । माँ ने एक दिन मुझसे कहा, "आजकल मन में न मालूम क्या हो गया है । भला, बुरा जो कुछ भी सोचती हूँ, वही हो जाता है । निर्जन होने से राधू को यह जंगल ही पसन्द है । कई दिनों से मेरे मन में आ रहा था कि तुम भले ही सारे दिन कामकाज से बाहर आते जाते रहो, पर शाम होने पर तुम यहीं मेरे पास आकर रहो । बड़ा डर लगता है, बेटा । राजेन को भी मैंने यही कहा है । वह रात को १०-११ बजे के बाद

आयेगा।" उसी दिन से मैं राधु के घर के बाहर कैथ के वृक्ष के नीचे एक तख्त डालकर बैठा रहता। माँ भी आकर बैठतीं और हम लोगों के साथ खूब धीरे धीरे बातचीत करतीं। एक दिन माँ कहने लगीं, "ऐसा घना जंगल, कहीं किसी दिन भालू न निकल जाय।" मैंने कहा, "न माँ, मैंने तो कभी इधर भालू नहीं देखा।" परन्तु सचमुच दो-एक दिन के बाद दोपहर में सुनने में आया कि एक मील दूर देशड़ा के मैदान में एक बड़े भालू ने गोबर उठाने वाली एक बुढ़िया को मार डाला है तथा बाद में उस भालू को भी गोली से मार डाला गया है। शाम के समय माँ ने कहा, "आज भालू की लीला देखी तुमने? उसने अंबिके (जयराम रामवाटी के चौकीदार) की सास को मार डाला। और तुम कह रहे हो कि इधर भालू नहीं है!"

शाम के समय माँ थोड़ी सी मिठाई खाकर पानी पीती थीं। जब मैं वृक्ष के तले रहता तो माँ मुझे भी खाने को देतीं। वे कहतीं, "सारे दिन के परिश्रम के पश्चात् शाम को कुछ खाकर पानी पीने से शरीर बड़ा स्निग्ध हो जाता है। उसके बाद मन जप, तप में अथवा अन्य किसी कार्य में अच्छा स्थिर हो जाता है।" एक दिन वे कहने लगीं, "ठाकुर की सेवा के लिए जब मैं नौबतखाने में रहती थी तब उस छोटे से कमरे में मुझे क्या ही कष्ट सहने पड़े थे। उसके भीतर ही सब सामान आदि थे। उनकी सेवा में शरीर को कोई कष्ट ही प्रतीत नहीं होता था। आनन्द के साथ दिन काट जाता था। और अब राधू के साथ इस तकलीफ में पड़ी हुई हूँ। जंगल में तुम लोगों को लेकर बैठना पड़ा है। धर्म, कर्म, जप, तप सब कुछ चला गया। अब उनकी कृपा से सब ठीक ठीक निपट जाय (राधू तब आसन-

प्रसवा थी) ।" कुछ देर बाद नवासन की भाभी आकर कहने लगी, "दादा, तुमने सुना ? आज दोपहर में मैं और माँ यहाँ बैठी थीं । एकदम सन्नाटा था । माँ कहने लगीं, "दो कौए कुछ दिनों से इसी समय इसी झाड़ में बैठकर खूब काँव काँव करते थे । राधू भी बहुत नाराज होती थी । किन्तु आजकल उन्हें कुछ दिनों नहीं देख पा रही हूँ । कहाँ गये वे दोनों बोलो तो ?" माँ का इतना कहना था कि दोनों कौए वृक्ष पर आकर काँव काँव करने लगे । माँ भी हँसकर 'हाँ बेटा' कहकर उनका समर्थन करने लगीं ।

और एक दिन आषाढ़ मास के शुरु शुरु में माँ और हम कुछ लोग वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे, रात के दस बजे होंगे । माँ अचानक कहने लगीं, "देखो, वह पगला कई दिनों से आया नहीं । एकदम पगला है, पर गाना-वाना अच्छा गाता था । पर बेटा, उससे बड़ा डर लगता था कि कहीं यहाँ पर चिल्लाना न शुरू कर दे ।" तब नवासन की भाभी कहने लगी, "और उसका नाम क्यों ले रही हो माँ ? यदि वह अभी ऐसी रात में आ पड़े तो ?" माँ ने कहा, "क्या मालूम बेटी ।" मैंने कहा, "कहती क्या हो माँ, ऐसे पानी बरसात में वह नदी कैसे पार होगा, जो यहाँ चला आयेगा ?" मेरे कहते न कहते वह पागल सिर में ताल के पत्ते का पंख लगाये और बगल में शहजन की डण्ठलों का एक बोझा बगल में दबाये वहाँ आ खड़ा हुआ और माँ से कहा, "तुम्हारे लिए शहजन की सब्जी लाया हूँ ।" नवासन की भाभी डर के मारे भीतर चली गयी । माँ ने कहा, "जा, बेटा जा, इतनी रात में शोरगुल मत मचा ।" उसने कहा, "जाऊँगा कैसे, नदी में बाढ़ जो है ?" मैंने पूछा, "तू आया कैसे ?"

उसने कहा, "तैर कर इस पार आया हूँ।" माँ ने उससे कहा, "मेरा राजा बेटा, तू शोर मत कर।" तब वह और कुछ न कहकर चला गया। माँ का यह भाव करीब दो महीने तक बना रहा।

इन्हीं दिनों एक दिन मैं राधू के कमरे के बरामदे में माँ के पास बैठा खरीददारी के सामनों की सूची बना रहा था। पास से गुजरते समय किसी स्त्री भक्त की साड़ी का आँचल मेरी पीठ से थोड़ा लग गया। माँ यह देखकर अत्यन्त नाराजगी व्यक्त करते हुए उस स्त्री से कहने लगीं, "क्यों जी, लड़का मेरा सामने बैठा हुआ लिख रहा है, पर तुम्हें जरा भी होश नहीं, उसके पीठ से आँचल लगाती जा रही हो? वे लोग ब्रह्मचारी हैं और तुम लोग स्त्री की जात! उनका लिहाज करना चाहिए। उसे प्रणाम करो।" माँ ने ऐसे तेजपूर्ण स्वर में ये बातें कहीं कि घर की स्त्रियाँ घबरा उठीं।

(क्रमशः)

श्रीरामकृष्ण, विवेकानन्द और ब्रह्मानन्द की पावन स्मृतियाँ

स्वामी विज्ञानानन्द

(अमेरिका के हॉलीवुड में स्थित वेदान्त सोसायटी ऑफ सदर्न कैलीफोर्निया के प्रमुख स्वामी प्रभवानन्दजी ने 'सत्प्रसंगे स्वामी विज्ञानानन्द' नामक बंगला ग्रन्थ से श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द और ब्रह्मानन्द विषयक मुख्य संस्मरणों का संकलन और अंग्रेजी में अनुवाद कर 'Vedanta and the west' पत्रिका के मार्च-अप्रैल १९५५ई. अंक में प्रकाशित किया था। प्रस्तुत लेख उसी का हिन्दी रूपान्तर है। अनुवादिका हैं डॉ. नन्दिता भार्गव। –स.)

श्रीरामकृष्ण को जब मैंने पहली बार देखा, उस समय मेरी आयु चौदह या पन्द्रह वर्ष की थी। वह घटना इस प्रकार हुई। एक दिन मैं अपने एक मित्र के साथ उसी के घर में खेल रहा था। तभी हम लोगों के एक अन्य मित्र ने आकर कहा, "तुम लोग परमहंस को देखने चलोगे क्या ?"

हमने पूछा—"कहाँ हैं वे ?"

उसने कहा—"यहीं तो पड़ोस के दीवानजी के घर में वे आये हैं।"

हममें से कोई भी तब जानता न था कि परमहंस किसे कहते हैं। अस्तु, हम तीनों दीवानजी के मकान की ओर चल पड़े।

दीवानजी के घर में प्रवेश करते समय हमें समवेत संगीत की ध्वनि सुनाई दी। और भीतर एक अद्भुत दृश्य दीख पड़ा। भक्तगण भजन गा रहे थे और ठाकुर उनसे घिरे बीच में खड़े थे। ऐसा लगता था मानो अपने चारों ओर हो रही घटनाओं का उन्हें बिल्कुल भी बोध न हो। एक भक्त उन्हें सहारा दिये हुए खड़े थे ताकि वे कहीं गिर

न पड़ें। उनके मुखमण्डल पर एक स्वर्गीय आभा खेल रही थी और अधरों पर भुवनमोहन मुस्कान था। उनकी आँखें मानो कोई अलौकिक दृश्य देख रही थीं। ऐसा लग रहा था जैसे वे किसी आनन्द-सागर में निमग्न हों। कुछ समय बाद उन्होंने भी माँ का एक भजन गाना शुरू किया और क्रमशः भाव-समुद्र में डूब गये। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो वे जगदम्बा का साक्षात् दर्शन करते हुए उन्हीं को गाकर सुना रहे हों। गाना समाप्त होने के पश्चात् दीवान उन्हें तथा साथ के भक्तों को दुमंजले के कमरे में ले गये। फिर हम लोग भी अपने अपने घर लौट आये।

ठाकुर को मैंने एक बार और मणि मल्लिक के घर देखा था। वहाँ पर मैं अपने एक अन्य सहपाठी शरत् (बाद में स्वामी सारदानन्द) के साथ गया था। इसके बाद और भी कई साल बीत गये। तब मैं कलकत्ते के सेण्ट जेवियर्स कालेज में पढ़ता था और मेरी आयु सत्रह-अट्ठारह वर्ष की रही होगी। एक दिन मैं ठाकुर से मिलने को दक्षिणेश्वर गया। दोपहर का समय था। उनके कमरे में अनेक भक्त बैठे थे। उन्हें साष्टांग प्रणाम करने के बाद मैं भी एक कोने में जा बैठा। श्रीरामकृष्ण एक छोटी सी खाट पर बैठे भक्तों से बातचीत कर रहे थे। शारीरिक गठन की दृष्टि से वे एक साधारण मनुष्य की ही भाँति थे, परन्तु उनकी मुस्कान अलौकिक थी। जब वे मुस्कुराते तो ऐसा लगता मानो आनन्द की तरंगें अठखेलियाँ कर रही हों। आनन्द की वे तरंगे न केवल उनके मुखमण्डल पर अपितु उनके समस्त अंगों-प्रत्यंगों तक में खेल रही थीं। उनकी वह आनन्दमय मुस्कान सम्मुख बैठे सभी लोगों के दुःख व चिन्ताओं को अपसारित कर रही थी। उनकी आवाज

इतनी मधुर और सुरीली थी कि उसे सुनते कभी जी ही नहीं भरता था। और उनकी आँखें तीक्ष्ण व उज्जवल परन्तु कोमल व स्नेहपूर्ण थीं।

मुझे ऐसा बोध हुआ कि ठाकुर का वह कमरा घनीभूत शान्ति से ओतप्रोत हो रहा है। उपस्थित भक्तगत उनकी वचनसुधा का पान करते हुए आनन्दमग्न थे। उस दिन क्या बातें हुई थीं इसका तो मुझे स्मरण नहीं, परन्तु उनकी वह मूर्ति सदा के लिए मेरे मानस पटल पर अंकित हो गयी। मैं एकाग्रचित्त से उन्हीं की ओर देखता रहा। उन्होंने न तो मुझसे कुछ पूछा और न मैंने ही उनसे कुछ कहा। फिर एक एक कर सभी भक्त जाने लगे। कमरे में मैं अकेला ही बैठा रहा। ठाकुर अपनी छोटी खाट पर आसीन मेरी ओर देख रहे थे। जी में आया कि अब मुझे भी उठकर चल देना चाहिए। उन्हें साष्टांग प्रणाम करने के बाद मैं विदा लेने को ज्योंही उठ खड़ा हुआ कि वे पूछ बैठे, "क्यों! तू कुश्ती लड़ सकता है? मेरे साथ लड़ सकेगा? आ, तो हो जाय दो हाथ!" इतना कहकर वे कमरे के फर्श पर खड़े हो गये। मैं तो इस पर आश्चर्यचकित रह गया, मन ही मन सोचने लगा—अरे! यह भला कैसे साधु को देखने चला आया। जो हो, मैंने कहा, "हाँ, अवश्य जानता हूँ कुश्ती लड़ना!"

ठाकुर हँसते हुए मेरे पास आ गये और मुझे जोरों से ढकेलने लगे। स समय मैं पूरा जवान था और शरीर का बलवान था। मैंने भी उन्हें दीवाल की ओर ढकेला। परन्तु इस पर भी वे हँसते हुए मुझे जोरों से पकड़े रहे। क्रमश: मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो उनके दोनों हाथों के भीतर से (विद्युत प्रवाह की भाँति) कुछ आकर सर-

सर करते हुए मेरे शरीर में प्रविष्ट होती जा रही है। उस स्पर्श के फलस्वरूप मेरे सम्पूर्ण शरीर में रोमांच होने लगा। मेरा हृदय दिव्य आनन्द से परिपूर्ण हो उठा। थोड़ी देर बाद ठाकुर ने मुझे छोड़ दिया और हँसते हुए बोले, "क्यों जी, तुमने तो मुझे हरा दिया न !" यह कहकर वे पुनः अपनी छोटी खाट पर जा बैठ। क्या उत्तर दूँ उस समय यह मेरी समझ में नहीं आ रहा था। जान गया कि यह उनकी एक लीला है। इधर मेरे अन्तर में एक अनिर्वचनीय आनन्द का समुद्र तरंगायित हो रहा था। थोड़ी देर बाद वे उठकर आये और मेरी पीठ थपथपाते हुए बोले, "बीच बीच में यहाँ आते रहना।" इसके बाद उन्होंने मुझे थोड़ा सा प्रसाद दिया। और मैं कलकत्ता लौट आया। कई दिन तक मेरा मन उसी दिव्य नशे में डूबा रहा। मैं समझ गया कि उन्होंने कृपा करके मेरे अन्दर आध्यात्मिक शक्ति का संचार किया है।

ठाकुर हम लोगों के लिए कितनी चिन्ता करते थे ! बहुत दिनों तक उनके पास न जाने पर वे किसी को भेजकर बुलाते थे या फिर खोज-खबर ही ले लिया करते थे। एक बार इसी प्रकार उनके बुला भेजने पर मैं दक्षिणेश्वर गया था। कमरे में प्रवेश करते ही उन्होंने शिकायत के स्वर में कहा, "क्यों रे, कैसा है ? आजकल आना-जाना बहुत ही कम कर दिया है। बुलवाने से भी नहीं आता।"

मैंने सच्ची बात कह दी, "आने की इच्छा नहीं हुई, इसलिए नहीं आया।" इस पर ठाकुर ने हँसते हुए पूछा, "ठीक है, ठीक है ! अच्छा, ध्यान-वान थोड़ा थोड़ा करता है न ?" मैं बोला, "ध्यान करने का प्रयास तो करता हूँ, परन्तु ध्यान हो नहीं पाता।" मेरी बात सुनकर वे विस्मित

हुए और बोले, "कहता क्या है रे, ध्यान नहीं होता ? क्यों नहीं होगा, अवश्य होगा ।"

इसके बाद वे थोड़ी देर चुप रहे । उनसे कुछ और सुनने की अपेक्षा में मैं एकटक उनकी ओर निहारता रहा । देखते ही देखते उनके मुखमण्डल और आँखों के भाव में परिवर्तन आया । मेरी ओर देखते हुए उन्होंने कहा, "आ, थोड़ा इधर आ ।" पास जाने पर उन्होंने मुझसे जीभ निकालने को कहा और अपनी अंगुली से उस पर कुछ लिख दिया । मेरे पूरे शरीर में कम्पन और भीतर ही भीतर आनन्द का भी अनुभव होने लगा । तदुपरान्त वे बोले, "जा, अब पंचवटी में ध्यान कर ।" उनका आदेश पाकर मैं धीरे धीरे पंचवटी की ओर चला । उनके स्पर्श के बाद से मेरा शरीर मानो अवश हो गया था, चलने में कठिनाई हो रही थी । किसी प्रकार पंचवटी में पहुँचकर मैं ध्यान करने बैठ गया । फिर मेरा बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया । चेतना लौटने पर मैंने देखा कि ठाकुर भी पास ही बैठे हुए परम स्नेह के साथ मेरे शरीर पर हाथ फेर रहे हैं और उनके अधरों पर मन्द मन्द मुस्कान फैली है । उस समय भी मुझ पर एक प्रकार का नशा सा चढ़ा हुआ था ।

बाद में उन्होंने पूछा, "क्यों रे, ध्यान हुआ ?" मैंने कहा, "हाँ, आज तो अच्छा ध्यान हुआ ।" वे बोले, "देखना, अब से प्रतिदिन ध्यान होगा । क्या कुछ दर्शन-वर्शन भी हुआ ?" जितना हो सका मैंने उन्हें विस्तारपूर्वक सब कुछ बता दिया । इसके बाद उनके पीछे मैं उनके कमरे में गया । कमरे में और कोई भी न था । उस दिन उन्होंने मेरे साथ काफी बातें कीं । अनेक उपदेश भी दिये ।

उनके अपार दया की तुलना नहीं हो सकती। उनके विराट् प्रेम को भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

कुछ काल बाद मैं कलकत्ते से पटना आ गया। एक रात मुझे स्पष्ट रूप से ऐसा बोध हुआ कि वे मेरे सामने ही खड़े हैं। समझ में नहीं आया कि मैंने उन्हें इस प्रकार क्यों देखा। दूसरे दिन प्रातःकाल समाचार मिला कि वे हम लोगों को छोड़कर चले गये हैं।

ठाकुर ने एक बार एक अंग्रेजी पुस्तक खोलकर मुझसे पढ़ने को कहा। मैंने पढ़ा, "सदा सत्य बोलोगे। लोभ नहीं करोगे। इन्द्रियों को वश में रखोगे।" सुनकर उन्होंने बड़ा सन्तोष व्यक्त किया। बिना कुछ बोले ही उन्होंने मुझे समझा दिया कि इन तीन उपदेशों का पालन करने से ईश्वर की उपलब्धि की जा सकती है। श्रीरामकृष्ण की दृष्टि में पुस्तकीय ज्ञान की कोई खास उपयोगिता न थी। वे चाहते थे कि हम लोग ईश्वर की अनुभूति से प्राप्त होनेवाला ज्ञान अर्जित करें।

ठाकुर पवित्रता की प्रतिमूर्ति थे और उनमें शिशु की सी सरलता विद्यमान थी। उन्हें इस बात पर बड़ा विस्मय होता था कि जब मनुष्य में शाश्वत आनन्द पाने की क्षमता है तो फिर वह क्यों बाह्य जगत् के आनन्दों में जकड़ा रहता है। उनकी दृष्टि में मनुष्य जीवन का एक मात्र लक्ष्य था —भगवान को प्राप्त करना और उन्हीं मे असीम सुख का आस्वादन करना।

मानव यदि इस मायामय जगत से अपने मन को विच्छिन्न कर सके तो वह सत्य का दर्शन पा सकता है। तब उसे ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ही ब्रह्म और उसकी विभूति दीख पड़ेगी। ईश्वर में निहित शान्ति को भुलाकर मानव

अपनी अनियन्त्रित कामनाओं के कारण सर्वदा सांसारिकता की आग में झुलसता रहता है। श्रीरामकृष्ण निरन्तर ही जगदम्बा के भाव में डूबे रहते थे, अतः संसार की ज्वाला कभी उनका स्पर्श नहीं कर पाती थी। उनका अन्तर ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण रहता था और वे सदा उसी के नशे में विभोर रहते थे। उन्हें खेद था तो केवल इसी बात का कि वे ब्रह्मानन्द के इस अलौकिक बोध को बिना किसी भदभाव के सब में संचारित नहीं कर पा रहे हैं। वे चाहते थे कि सभी उनके इस आनन्द में भागीदार हों। इस संसार में जितने भी प्रकार के इन्द्रियजनित आनन्द हैं, वे सब इस ब्रह्मानुभूति के सामने मुट्ठी भर धूल की भाँति हैं। ठाकुर को प्रत्येक वस्तु में अनादि ब्रह्म की ही अनुभूति हुआ करती थी।

एक बार मैंने ठाकुर से पूछा, "ईश्वर साकार है अथवा निराकार ?" उन्होंने उत्तर दिया, "वे साकार और निराकार दोनों हैं, और फिर साकार-निराकार के परे भी हैं।" तब मेरे मन में आया कि साकार का अर्थ है—जिन जिन वस्तुओं का आकार हो। अतः मैंने पूछा, "यदि ईश्वर साकार हों, तो फिर क्या यह खाट भी वे ही हैं ?" ठाकुर ने खूब दृढ़तापूर्वक कहा "हाँ, यह खाट भी ईश्वर है। यह थाली, कटोरा, दीवाल ईश्वर है—जो कुछ भी है सब ईश्वर ही है।" उनकी बातें सुनते-सुनते मैं सम्मोहित सा हो उठा, मेरा अन्तर ज्ञानालोक से उद्भासित हो गया—मुझे ब्रह्मज्योति का दर्शन हुआ।

ठाकुर एक असाधारण और अद्भुत व्यक्ति थे। उनका चित्र षट्चक्रभेद की अभिव्यक्ति है। उनकी उस

भावघन मूर्ति की ओर देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो वे सभी चक्रों का भेदन कर आनन्दसागर में डूबे हुए हों। उसी चित्र में मुझे बहुत सी चीजें दीख पड़ती हैं, इसीलिए कहता हूँ। परन्तु स्वामीजी (विवेकानन्द) और राजा महाराज (ब्रह्मानन्द) आदि व्यक्त रूप से कुछ कहते नहीं थे। एक बार ठाकुर ने अपना फोटो दिखाते हुए मुझसे कहा, "देख, इसके भीतर मैं हूँ। इसका ध्यान करना।"

जिन्होंने पूरे दिल से ठाकुर को ग्रहण किया है, वे उन सब की रक्षा करेंगे। वे ही उनके लिए सब कुछ कर देंगे।

एक दिन दक्षिणेश्वर में ठाकुर के कमरे में बैठकर मैं उनकी पदसेवा कर रहा था। उसी समय कोन्नगर से एक सज्जन उनका दर्शन करने को आये। थोड़ी देर बातचीत करके उनके चले जाने के पश्चात् ठाकुर ने मुझसे कहा, "देख, जैसे काँच की आलमारी में चीजें रखने पर (बाहर से) सब कुछ दिखायी देता है, मैं भी वैसे ही सबके मन के भीतर देख सकता हूँ। ठाकुर की वह बात सुनकर मेरे मन में आया ---तब तो ये मेरे भीतर की भी सारी बातें देख रहे हैं। ये तो लगता है एक बड़े ही अद्भुत् आदमी हैं! पर ठाकुर लोगों की अच्छाइयाँ ही बोला करते थे, दोषों को व्यक्त नहीं करते थे।

श्रीरामकृष्ण में हमें पहले के सभी अवतारों की अभि-व्यक्ति दीख पड़ी थी। जब मैंने पहली बार उनके मुख से सुना, "जो राम हुआ था, जो कृष्ण हुआ था, वही (अपने शरीर की ओर इंगित कर) इस शरीर में रामकृष्ण रूप में आया है।" तब मुझे इस पर उतना विश्वास नहीं हुआ था। मन में आया था कि थोड़ा ऊट-पटांग बोलते हैं, पर आदमी हैं अच्छे और सरल!

बाद में एक दिन ठाकुर ने अपने कमरे में खड़े होकर गम्भीर स्वर में कहा था—"मैंने कृष्ण अवतार के समय गोप-गोपिकाओं को साथ लेकर प्रेमलीला की थी। उन दिनों मैं कालेज का छात्र था और मैं ठाकुर की इस बात पर विश्वास नहीं कर सका। मेरे मन में सन्देह उठता देखकर वे श्रीकृष्ण के प्रति गोपिकाओं के प्रेम के बारे में कहने लगे। वे बोले—"गोपिकाओं का श्रीकृष्ण के प्रति जो प्रेम है, वही ठीक ठीक भगवत्प्रेम है। कृष्ण के लिए वे प्रेमोन्मादिनी हो उठी थीं। वे उनकी वंशी की ध्वनि सुनते ही अपने पति और परिवार को छोड़ घर से दौड़ते हुए निकल पड़ती थीं। श्रीकृष्ण में कोई जागतिक ऐश्वर्य तो था नहीं, तथापि उन्हें वे अपने प्राणों से भी अधिक प्रेम करती थीं। उन्होंने अपना देह, मन, चित्त आदि सबकुछ श्रीकृष्ण को अर्पित कर दिया था।"

ये बातें कहते कहते ठाकुर बिल्कुल भावविभोर हो गये। बाह्यज्ञानशून्य होकर वे गहन समाधि में डूब गये। मैं भी उनके गोप-गोपियों के साथ हुए प्रेमलीला की बात सोचते सोचते भगवद्भाव में विभोर हो गया। उस समय उनकी शक्ति की परिधि के भीतर होने के कारण रासलीला के विषय में मेरी भ्रान्त धारणा तथा अज्ञान का आवरण सदा के लिए दूर हो गया। उस समय रासलीला के विषय में मेरे मन में एक अभिनव अनुभूति और धारणा का उदय हुआ। अपनी उस गम्भीर समाधि के भंग होने के बाद ठाकुर एक शिशु के समान हँसने लगे। शक्तिमान महापुरुष जहाँ भी रहते हैं, वहीं एक आध्यात्मिक परिमण्डल की सृष्टि किये रहते हैं और उनकी उस सीमा के भीतर जो भी प्रवेश करता है, उसे समझ जाता है कि बाहर से विद्युत

प्रवाह के समान कोई शक्ति उसके भीतर प्रवेश कर रही है। यह एक बड़ी अद्भुत बात है। जब हमारा मठ बेलुड़ में नीलाम्बर मुकर्जी के उद्यान में था, तब एक बार दशहरे के दिन स्वामीजी के चरण स्पर्श कर प्रणाम करते समय मुझे विद्युत का सा आघात लगा था। स्वामी ब्रह्मानन्दजी भी बड़े शक्तिशाली पुरुष थे। एक दिन वे खूब गहरे ध्यान में मग्न होकर आसीन थे। मैं भी पास ही बैठा था; मैंने देखा कि मेरे भीतर भी वही भाव आता जा रहा है। एक आदमी की शक्ति दूसरे के अनजाने ही उस पर कार्य करती है। ब्रह्मानन्दजी जैसे आध्यात्मिक शक्ति के आगार थे, वैसे ही विनोदप्रिय भी थे। हमने देखा है कि स्वामीजी और राखाल महाराज—इन दोनों के भीतर क्या ही अद्भुत आकर्षण शक्ति थी! मानो बलपूर्वक अपनी ओर खींच लेते थे। जो भी इनकी शक्ति के प्रभाव की सीमारेखा के भीतर जायेगा उसके अशुभ संस्कार और अज्ञान के आवरण धीरे धीरे लुप्त हो जायेंगे।

स्वामीजी और महाराज की एक दूसरे के साथ तुलना नहीं की जा सकती। दोनों ही अपने अपने क्षेत्र में अद्वितीय थे, एक-दूसरे के परिपूरक थे। स्वामीजी के भावों को राखाल महाराज ने दृढ़-प्रतिष्ठित और कार्य रूप में परिणत किया। स्वामीजी ने बाहर से इतना ज्ञान और कर्म का प्रचार किया है, परन्तु उनके अन्तर में था प्रेम का भाव। राखाल महाराज भक्ति और उपासना की बातें करते थे परन्तु भीतर ही भीतर वे पूर्ण ज्ञानी थे। स्वामीजी का अन्तर माँ के समान कोमल था और गुरुभाइयों के प्रति, विशेषकर राखाल महाराज के प्रति उनका क्या ही असीम प्रेम था। ठीक 'गुरुवत् गुरुपुत्रेषु' भाव था।

उन दिनों में गंगातट पर पक्का घाट बनवा रहा था। एक दिन बड़ी धूप थी। स्वामीजी मठ के ऊपर वाले बरामदे में बैठे शरबत पी रहे थे। मुझे भी बड़ी प्यास लगी हुई थी। उसी समय स्वामीजी के एक सेवक ने आकर मुझे एक गिलास देते हुए कहा—स्वामीजी ने आपके लिए शरबत भजा है। सुनकर मैं तो बड़ा ही आनन्दित हुआ, परन्तु देखने पर मालूम हुआ कि गिलास की तली में केवल दो-चार बूँद शरबत ही बचा है। पहले तो मैं बड़ा ही निराश हुआ, मन में दुःख भी हुआ कि कहाँ तो प्यास से मेरी छाती फटी जा रही है और ऐसे समय स्वामीजी उस प्रकार हँसी कर रहे हैं। खैर, महापुरुष का भेजा हुआ प्रसाद मानकर मैं उन दो-चार बूँदों को ही पी गया। पर उसी से मेरी सारी प्यास क्षण भर में मिट गयी, अद्‌भुत् तृप्ति का अनुभव हुआ। मैं तो अवाक् रह गया। घाट का कार्य समाप्त कर लौटने पर स्वामीजी ने हँसते हँसते पूछा, "शरवत पिया था?" मैंने उत्तर दिया, "शरवत तो नाम मात्र को था, परन्तु जो था उसी से बड़ी तृप्ति हुई।" सुनकर स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए।

एक बार मेरे मन में एक शंका उठी। ठाकुर ने कहा था कि साधुगण स्त्रियों से मिलना-जुलना तो दूर उनके चित्र तक नहीं देखेंगे। उन्होंने मुझे विशेष रूप से सावधान करते हुए यह भी बताया था कि कोई स्त्री यदि अत्यन्त भक्तिमती हो तो भी उसकी ओर मत देखना। तथापि स्वामीजी ने अनेक देशों की यात्रा की, अनेक व्याख्यान दिये। इस दौरान उन्हें हर तरह के लोगों के साथ तथा महिलाओं के साथ भी मेलजोल करना पड़ा। अतः मैं सोचा करता था कि ये जो कुछ कर आये, यह क्या ठीक ठाकुर

के भावानुरूप हुआ ? एक दिन स्वामीजी को अकेले में पाकर मैंने उनके समक्ष यह प्रसंग उठाया और साथ ही ठाकुर के उपदेशों का भी उल्लेख किया। मेरी बातें सुनकर स्वामीजी अत्यन्त गम्भीर हो गये। थोड़ी देर बाद वे बोले, "देख पेशन, ठाकुर को तूने जितना समझा है, क्या ठाकुर केवल उतने ही बड़े हैं ? और ठाकुर को तूने भला समझा भी कितना है ? जानता है, ठाकुर ने मेरे मन से स्त्री-पुरुष का भेद मिटा दिया है ! आत्मा में भला स्त्री-पुरुष भी कहाँ है रे ? फिर, ठाकुर आये हैं सम्पूर्ण जगत के लिए। वे क्या चुन-चुनकर केवल पुरुषों का ही उद्धार करने आये थे ? उन्होंने तुझे जिस भाव का उपदेश दिया है तू ठीक उसी भाव से चलना। परन्तु मुझे उन्होंने अन्य प्रकार से कहा है। केवल कहा ही नहीं, स्पष्ट रूप से दिखा दिया है। वे हाथ पकड़कर जो करा रहे हैं, मैं वही कर रहा हूँ।" स्वामीजी पर मैंने नाहक ही शंका की यह सोचकर मुझे खेद होने लगा और मैं मौन रहा।

स्वामीजी को मेरी अवस्था देख दया आ गयी और वे थोड़ा हँसते हुए बोले, "नारियों के भीतर उन आद्याशक्ति को जगाये बिना क्या कोई जाति जाग सकती है, या कोई जाति उठ सकती है ? मैंने तो सारी दुनिया घूमकर देख ली है। सभी देशों में महिलाओं की एक जैसी ही हालत है और विशेषकर हमारे इस अभिशप्त देश का तो कहना ही क्या ? इसीलिए तो हमारी जाति का इतना अधःपतन हो गया है। महिलाओं के जागते ही तुम देखोगे कि पूरे राष्ट्र का जागरण हो गया है। इसीलिए तो माँ (श्री सारदादेवी) का आगमन हुआ है। माँ के आने के बाद से ही सभी देशों की नारियों के भीतर जागरण प्रारम्भ हुआ है। अभी

तो प्रारम्भ मात्र है, बाद में और भी कितना सब देखेगा।"

पहले मैं मठ में निवास करता तो प्राय: उसी छोटे कमरे में रहा करता था। जहाँ तक हो पाता मैं बरामदे की ओर का दरवाजा नहीं खोलता था, क्योंकि स्वामीजी अक्सर उसी बरामदे में टहला करते थे। एक बार भाव-विभोर होकर उसी बरामदे में—'माँ त्वं हि तारा, तुमि त्रिगुणधरा परात्परा'—यह भजन गाते हुए वे रात भर घूमते रहे। गाते गाते बीच बीच में व्याकुल होकर रोते और मौन खड़े हो जाते। भोर तक उनका यही भाव चलता रहा।

□

व्याकुलता

धन आदि मुझे नहीं मिला, पुत्र नहीं हुआ—यह कहकर लोग घड़ों आँसू बहाया करते हैं; परन्तु मुझे भगवान के दर्शन नहीं मिले उनके चरणकमलों में मेरी भक्ति नहीं हुई—यह कहकर क्या कोई अपनी आँखों से एक बूँद भी आँसू गिराता है?

जैसे बच्चे अपनी माँ से पैसे के लिए हठ करते हुए मचल जाते हैं, कभी रोते हैं, कभी मारते हैं। उसी प्रकार आनन्दमयी माँ को जो अपनों से भी अपना समझकर उन्हें देखने के लिए एक सरल बालक की भाँति रोता है, उसे वे दर्शन दिए बिना नहीं रह सकतीं।

—श्रीरामकृष्ण

परम बल

स्वामी सत्यरूपानन्द

काન्यकुब्ज देश के एक प्रतापी राजा थे महाराज गाधि। उनके एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्र थे विश्वामित्र। महाराज गाधि स्वयं एक प्रजापालक वीर राजा थे। उनके पुत्र विश्वामित्र उनसे भी बढ़कर प्रजापालक तथा पराक्रमी सिद्ध हुए। उन्होंने अपने राज्य का काफी विस्तार किया तथा अत्यन्त वैभवशाली हुए।

विश्वामित्र एक बार अपने मंत्रियों तथा सेना के साथ आखेट के लिये वन में गये। एक वन्य पशु का पीछा करते हुए महाराज वन में बहुत दूर निकल गये। परिश्रम के कारण वे बहुत थक गये तथा उन्हें प्यास भी लग आयी। उस गहन वन में उन्होंने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी। थोड़ी दूर पर उन्हें एक आश्रम दीख पड़ा। थके-मादे राजा विश्वामित्र उस आश्रम में जा पहुँचे। वह आश्रम महा-तेजस्वी महर्षि वशिष्ठ का था। महाराज विश्वामित्र को आया देख वशिष्ठजी ने उनका स्वागत सत्कार तथा उनके विश्रामादि का प्रबन्ध कर दिया। राजा के विश्राम के दौरान ही उनके मंत्री, सैनिक आदि भी उन्हें ढूँढ़ते हुए महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में आ पहुँचे। वशिष्ठजी ने सबका यथोचित स्वागत किया तथा महाराज विश्वामित्र से अपने मंत्रियों, सैनिकों आदि के साथ आश्रम का आतिथ्य ग्रहण करने का अनुरोध किया।

महाराज विश्वामित्र ने ऋषि से निवेदन किया—"भगवन्! हमारे साथ सेनापति, मंत्री तथा बड़ी संख्या में सैनिक, आदि हैं। आपको इन सबके भोजनादि की

व्यवस्था करने में असुविधा होगी, अतः हमें अपनी राजधानी लौट जाने की अनुमति दीजिए।

महर्षि वशिष्ठ ने आग्रहपूर्वक विश्वामित्र से अपना आतिथ्य स्वीकार करने को कहा तथा उन्हें आश्वासन दिया कि राजा और उनके संगियों के स्वागत-सत्कार में उन्हें कोई असुविधा न होगी।

विश्वामित्र ने ऋषि का आग्रह स्वीकार कर लिया।

यथासमय सभी के भोजनादि की व्यवस्था हुई। महाराज विश्वामित्र यह देखकर दंग रह गये कि घोर वन में स्थित उस आश्रम में, उन्हें तथा उनके सैनिकों आदि को जितने विभिन्न प्रकार के पकवान आदि परोसे गये, उस प्रकार का सुस्वादु भोजन तो उनके राजप्रसाद में भी दुर्लभ था। इतना ही नहीं भोजनादि के पश्चात् महर्षि वशिष्ठ ने सभी को बहुत से मूल्यवान उपाहरादि भी भेंट किये। यह सब देखकर विश्वामित्र के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होंने उत्कण्ठापूर्वक महर्षि वशिष्ठ से पूछा—"ऋषिवर! इस गहन वन में स्थित आपके आश्रम में तो अन्तेवासियों की साधारण जीविका चलाना भी कठिन प्रतीत होता है, फिर आपने इतने सुन्दर भोजनादि की व्यवस्था, ऐसे मूल्यवान उपहारों का प्रबन्ध कैसे किया? कृपापूर्वक मुझे इसका रहस्य बताइए।"

महर्षि वशिष्ठ राजा विश्वामित्र को अपनी गोशाला में ले गये तथा एक अत्यन्त सुन्दर हृष्ट-पुष्ट गाय की ओर इंगित करके बोले—"राजन्! यह कामधेनु नाम की एक दिव्य गाय है। अतिथि सेवादि के लिए जब जिस वस्तु की जितनी भी मात्रा में हमें आवश्यकता होती है, हम इससे मांगते हैं और कामधेनु हमारी आवश्यकता के

अनुसार सभी वस्तुएँ हमें तत्काल प्रदान कर देती है। आज भी आप सबके स्वागत सत्कार के लिए हमने इस गाय से ही सारी वस्तुएँ प्राप्त की हैं।"

गाय की अद्भुत क्षमता की बात सुनकर महाराज विश्वामित्र को लगा कि यह अद्भुत गाय तो राजप्रासाद की शोभा है। इसे तो मेरे राजप्रसाद में ही रहना चाहिए। ऋषि के आश्रम में इसकी क्या उपयोगिता ? आश्रम की सेवा के लिए मैं महर्षि वशिष्ठ को सहस्रों गायें दे दूँगा। ऐसा विचार कर महाराज विश्वामित्र ने वशिष्ठ जी से कहा--"ऋषिवर ! इस कामधेनु को तो राजप्रसाद में होना चाहिए। वहीं इसकी विशेष उपयोगिता है तथा वहीं इसका उचित स्थान भी है। इस धेनु के बदले आश्रम की सेवा के लिये मैं आपको सहस्रों गायें प्रदान करूँगा। आप कृपापूर्वक यह गाय मुझे दे दीजिए।"

ऋषि वशिष्ठ ने कहा--"राजन् ! यह कामधेनु आश्रम की सेवा के लिए है। इसी की सहायता से हम अतिथि-आगन्तुकों की भी सेवा कर पाते हैं। अतः यह गाय भला हम आपको कैसे दे सकते हैं ?"

वशिष्ठजी का उत्तर सुनकर महाराज विश्वामित्र का क्षत्रित्व-अभिमान जाग उठा। उन्होंने वशिष्ठजी से कहा--"ऋषिवर ! आप जानते हैं कि मैं क्षत्रिय हूँ। और क्षत्रिय का यह धर्म है कि वह अपनी अभिष्ट वस्तु अपने बाहुबल से प्राप्त करे। यदि आप स्वेच्छा से यह गाय मुझे नहीं देंगे तो मैं आपके सम्मुख ही बलपूर्वक इसे हर कर ले जाऊँगा।"

महर्षि वशिष्ठ ने कहा--"राजन् ! मैंने आपको अपना मत स्पष्ट बता दिया है। मैं आपको कामधेनु नहीं

दे सकता । आपको जो उचित लगे वह कीजिए ।"

ऋषि का स्पष्ट उत्तर सुनकर विश्वामित्र क्रुद्ध हो उठे । उन्होंने अपने सैनिकों को आज्ञा दी—"कामधेनु को बाँधकर बलपूर्वक राजधानी ले चलो ।"

राजा की आज्ञा पाकर सैनिकगण कामधेनु को हाँकने लगे । किन्तु वह आश्रम के बाहर जाना नहीं चाहती थी । उन्होंने उसे कोड़ों और डण्डों से मारना प्रारम्भ किया । सैनिकों के प्रहार से विचलित होकर कामधेनु रम्भाते हुए ऋषि वशिष्ठ के सामने उपस्थित हुई तथा आँखों से आँसू बहाते हुए ऋषि से बोली—"भगवन् ! ये दुष्ट सैनिक मुझे बलपूर्वक लिए जा रहे हैं । देखिए ये मुझे मार भी रहे हैं । भगवन् ! क्या आपने मुझे सचमुच ही त्याग दिया है ?"

वशिष्ठ ने कहा—"कल्याणी ! मैंने तुम्हें त्यागा नहीं है । विश्वामित्र बलपूर्वक तुम्हारा हरण करके ले जा रहे हैं । में क्षमाशील ब्राह्मण हूँ, अतः उनका प्रतिकार करना मेरा धर्म नहीं है । यदि तुम मेरे पास रह सकती हो तो अवश्य रहो । मैंने तुम्हारा त्याग नहीं किया है ।"

ऋषि की यह वाणी सुनकर कामधेनु के आँसू थम गये । क्रोध मे उसकी आँखें लाल हो उठी और वह उसे मारने वाले सैनिकों की ओर मुड़ी । गरदन झुकाकर दहाड़ती हुई वह उन सैनिकों पर टूट पड़ी । उसका रौद्र रूप देखकर सैनिक इधर-उधर भागने लगे । कामधेनु ने अपने शरीर के विभिन्न भागों से तरह-तरह के सैनिकों को उत्पन्न किया जो महाराज विश्वामित्र की सेना पर टूट पड़े । उनकी मार के सामने विश्वामित्र के सैनिक टिक नहीं सके तथा भयभीत होकर चारों दिशाओं मे भागने लगे । कामधेनु

के सैनिकों ने उन्हें कोसों दूर खदेड़ दिया। महाराज विश्वामित्र असहाय होकर यह सब देखते रहे। उन्होंने देखा कि महर्षि वशिष्ठ एक ओर शान्त भाव से खड़े सारा दृश्य देख रहे हैं। उन्हें इस प्रकार शान्त खड़ा देखकर विश्वामित्र को क्रोध आ गया। उन्हें लगा कि मेरे सैनिकों की पराजय के कारण ये वशिष्ठ ही हैं। इन्हीं के कारण मेरी यह अवस्था हो गई कि मैं यहाँ असहाय अकेला खड़ा रह गया हूँ। ये ऋषि ही मेरी इस दुर्दशा के कारण हैं। अतः मैं इन्हें ही इसका दण्ड दूँगा। ऐसा सोचकर विश्वामित्र ने अपना धनुष उठाया और महर्षि वशिष्ठ पर बाणों की वर्षा करने लगे। ऋषि वशिष्ठ ने उसी प्रकार अत्यन्त शान्तभाव से एक साधारण बाँस का दण्ड उठाया, उसे ब्रह्मशक्ति से अभिमंत्रित किया तथा उसी के द्वारा विश्वामित्र के बाणों को व्यर्थ कर दिया। अपने बाणों को व्यर्थ जाते देख विश्वामित्र और अधिक क्रोधित हो उठे। अब उन्होंने महर्षि पर दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया। किन्तु वशिष्ठजी ने पुनः उसी प्रकार शान्त भाव से उसी ब्रह्मदण्ड के द्वारा विश्वामित्र के दिव्यास्त्रों को भी निरस्त कर दिया।

अपने दिव्यास्त्रों को व्यर्थ होता देख विश्वामित्र बड़े ही लज्जित और दुखी हुए। उन्हें यह निश्चय हो गया कि महर्षि वशिष्ठ के पास जो महान् शक्ति है वह अजेय है। उसे कोई पराजित नहीं कर सकता। वशिष्ठजी के पास जो शक्ति थी, वह ब्रह्म की शक्ति थी, ब्रह्म का तेज था। महाराज विश्वामित्र ने यह देख लिया था कि उनका अदम्य क्षत्रिय शौर्य, भयंकर दिव्यास्त्रों की विनाशकारी शक्ति महर्षि वशिष्ठ के महान ब्रह्मतेज के सम्मुख मरुभूमि में गिरने वाली वर्षा की बूँदों के समान व्यर्थ है। वे खिन्न

और उदास हो गये तथा अनायास उनके मुख से यह वाक्य निकल पड़ा—"क्षत्रिय बल को धिक्कार है ब्रह्म तेज का बल ही सच्चा बल है।"

धिक् बलं क्षत्रिय बलं ब्रह्मतेजो बलं बलम् ।

ब्रह्मतेज का ऐसा विलक्षण प्रभाव देखकर महाराज विश्वामित्र के मन में इच्छा जागी कि मुझे भी यह ब्रह्मतेज प्राप्त करना होगा । और ब्रह्मतेज प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है तपस्या । अतः उन्हें लगा कि तपस्या ही परम बल है । यह विचार आते ही उन्होंने दृढ़ संकल्प किया कि वे तपस्या द्वारा अवश्य ही ब्रह्मतेज प्राप्त करेंगे । यह संकल्प करके उन्होंने उसे तत्काल क्रियान्वित करने के लिए अपने सभी अस्त्र-शस्त्रों का परित्याग कर दिया । अपने अत्यन्त समृद्धिशाली राज्य को उन्होंने त्याग दिया, सभी प्रकार के भोजों को तिलाँजलि दे दी और घोर तपस्या में डूब गये । इस कठोर तपस्या के फलस्वरूप अन्त में महाराज विश्वामित्र को ब्रह्मतेज की उपलब्धि हुई और वे ब्रह्मर्षि हो गये ।

महाभारत की यह कथा हमारे सामने एक बहुत बड़े सत्य का उद्‌घाटन करती है और वह यह है कि अन्तिम विजय सदैव सत्य तथा आध्यात्मिक शक्ति की ही होती है । प्रारम्भ में दम्भ और अभिमान पर आधारित भौतिकशक्ति कितनी ही प्रबल क्यों न प्रतीत हो, एक दिन उसे सत्य तथा आध्यात्मिकता के सम्मुख झुकना ही पड़ता है । विश्व का इतिहास इसका साक्षी है । आपात् दृष्टि से देखने पर हिरण्यकशिपु के सामने प्रह्लाद की शक्ति शून्य के समान थी । कंस के सम्मुख वासुदेव की शक्ति क्या थी ? त्रिभुवनजयी रावण के सामने वनवासी

भगवान श्रीराम की शक्ति कितनी दीख पड़ती थी ? सत्य और अहिंसा के व्रती महात्मा गांधी की शक्ति आपात् दृष्टि से अजेय ब्रिटिश साम्राज्य के सामने क्या थी ? किन्तु इन सभी प्रचण्ड भौतिक शक्तियों को सत्य और आध्यात्मिकता की शक्ति से पराजित होना पड़ा। अन्तिम विजय आध्यात्मिक शक्ति की, ब्रह्मतेज की ही हुई। भौतिकता के मद से उन्मत्त दुर्योधन ने महाभारत युद्ध के पूर्व भगवान श्रीकृष्ण को त्याग कर यादवों की नारायणी सेना ग्रहण की थी। यह नारायणी सेना भी तो भौतिक शक्ति की ही प्रतीक थी, जो उस युग में अजेय मानी जाती थी। किन्तु इस अजेय सेना को भी हार माननी पड़ी और उसका भी विनाश हुआ। बाह्य दृष्टि से न्यून दिखने वाली पाण्डवों की सेना को ही अन्तिम विजय प्राप्त हुई।

पाण्डवों ने इस रहस्य को भलीभाँति समझ लिया था, तभी तो उन्होंने भगवान की विशाल नारायणी सेना को त्यागकर युद्ध विरत निशस्त्र कृष्ण का वरण किया और उनके शरणापन्न हुए। अपनी सुविधा के लिए उन्होंने असत्य, अन्याय और कपट का आश्रय नहीं लिया। इसके विपरीत सभी कष्टों को भूलकर वे तपस्या का ही जीवन बिताते रहे।

ब्रह्मतेज या आध्यात्मिक शक्ति तपस्या से ही प्राप्त होती है। इसीलिए महाराज विश्वामित्र ने तपस्या का आश्रय लिया था। वह तपस्या क्या थी जिसने महर्षि वशिष्ठ को ऐसी प्रचण्ड शक्ति प्रदान की थी, जिसके सम्मुख महाराज विश्वामित्र का दुर्धर्ष, अजेय समझा जानेवाला क्षत्रिय-बल पर्वत से टकराये हुए बाण के समान व्यर्थ और निरर्थक सिद्ध हुआ ?

महाभारत के इस प्रसंग में महर्षि वेदव्यास ने एक गन्धर्व के मुख से इसका रहस्य हमारे सामने उद्घाटित किया किया है। गन्धर्व महर्षि वशिष्ठ का परिचय देते हुए कहता है—

ब्रह्मणो मानसःपुत्रो वशिष्ठोऽरुन्धतीपतिः ।
तपसा निर्जितौ शश्वदजेयावमरैरपि ॥

कामक्रोधावुभौ यस्य चरणौ संववाहतुः ।
इन्द्रियाणां वशकरो वशिष्ठ इति चोच्यते ॥*

—वशिष्ठजी ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं। उनकी पत्नी का नाम अरुन्धती है। काम और क्रोध नामक दोनों शत्रु, जिन्हें देवता भी नहीं जीत सके, वे वशिष्ठजी की तपस्या से सदैव के लिए पराभूत होकर उनके चरण दबाते हैं। इन्द्रियों को वश में करने के कारण वे वशिष्ठ कहलाते हैं।

इन्द्रियों को वश में करना, मन का निग्रह करना—यही है ब्रह्मतेज प्राप्त करने का अमोघ उपाय। काम, क्रोध आदि रिपुओं को पराभूत कर उन्हें सर्वथा अपने अधीन रखना तथा उनकी समस्त शक्तियों को आत्म-साक्षात्कार की दिशा में मोड़ देना—यही उपाय है अपने अन्तःकरण में स्थित अव्यक्त ब्रह्म की अनुभूति और अभिव्यक्ति का।

महर्षि वशिष्ठ ने रिपुओं को पूर्णतः पराजित कर लिया था। उनका मन और इन्द्रियाँ पूर्णतः उनके वश में थीं, इसी कारण उनके जीवन में वह महान ब्रह्मतेज प्रगट हुआ, जिसके सम्मुख महाराज विश्वामित्र का प्रचण्ड क्षात्र बल प्रज्वलित अग्नि के सम्मुख एक क्षुद्र पतंगे की भाँति नष्ट हो गया था।

* महाभारत, आदिपर्व के अन्तर्गत चैत्ररथ पर्व, अध्याय, १७३/५-६

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(स्वामी तुरीयानन्दजी भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य थे। बँगला और अंग्रेजी में लिखे हुए उनके लगभग ३०० पत्र उपलब्ध हैं। प्रस्तुत हैं उन्हीं में से चुने हुए ज्ञानगर्भित और प्रेरणादायी अंश –सं.)

–५–

एक ही शरीर में बद्ध न रहो, अपना विस्तार करो। केवल अपनी चिन्ता बहुत हुई, अब दूसरों की चिन्ता करो––इससे बहुत भला होगा। क्या कोई अपनी इच्छा के अनुरूप चरित्र गढ़ सकता है? चरित्र तो अपने आप ही गढ़ जाता है, माँ गढ़ लेती हैं।

रामचन्द्र जब दक्षिण प्रान्त में भ्रमण कर रहे थे; एक बार चातुर्मास बिताने के हेतु उन्होंने एक पर्वत पर आश्रय लिया। वहाँ एक शिवालय को छोड़ और कुछ भी न था। रामजी ने लक्ष्मण को महादेव की अनुमति लेने भेजा। लक्ष्मण मन्दिर में गये और वहाँ रामजी का निवेदन कह सुनाया। शंकरजी ने मुख से कुछ न कहकर एक अलग ही मुद्रा धारण की। वह एक नृत्य की मुद्रा थी, जिसमें वे अपना लिंग मुख में डालकर नृत्य करने लगे। लक्ष्मण ने लौटकर जब रामचन्द्रजी को यह सूचना दी, तो वे इस पर आनन्द व्यक्त करने लगे। लक्ष्मण ने कहा–– "प्रभो, मैं तो कुछ भी समझ नहीं सका।" श्रीराम बोले–– "लक्ष्मण, महादेव ने अनुमति दे दी है।" भाव यह है कि लिंग और जिह्वा का निग्रहकर जहाँ भी इच्छा हो निवास करो और तुम आनन्दपूर्वक रह सकोगे। यह कथा मैंने बचपन में एक साधु के मुख से सुनी थी, अब इसका साक्षात् अनुभव कर रहा हूँ।

—६—

सोने की इतनी इच्छा क्यों ? "शेते सुखं कस्तु ? ——समाधिनिष्ठः ।"* "निद्रा समाधिस्थितिः ।"†— इतना 'मेरा' 'मेरा' करने से नींद कैसे आयेगी ? मन यदि चंचल होता है तो होने दो, धीरे धीरे शान्त हो जाएगा। उस दुष्ट की ओर ध्यान न देना —यही उत्कृष्ट उपाय है। अपनी असारता क्या तुम्हारे समझ में आ गयी है ?

जब कोई कार्य नहीं रहता, तभी मनुष्य अपनी चिन्ता करता है और चिन्तित होकर भी कुछ कर नहीं पाता। अब और कितने दिन चिन्ता करोगे ? छोड़ो, बहुत हुआ ! अब थोड़ी दूसरों की चिन्ता करो ।

—७—

मेरे कथन का सारांश यह है कि भगवान की कृपा से उत्तरोत्तर तुम्हारी और भी उन्नति होगी तथा उन्हीं को अपने जीवन का सार-सर्वस्व समझकर एवं उन्हीं में सम्पूर्ण मन-प्राण अर्पित कर तुम अपना मानव जीवन सफल कर सकोगे। प्रभु तुम्हें आशीष दें। यह कोई कम आनन्द तथा भाग्य की बात नहीं है कि तुम ईश्वर के मार्ग में रहकर उन्हीं की आराधना में जीवन बिता रहे हो और विशेष रूप से उन्हीं की सेवा करने के इच्छुक हो। अपनी आराधना का अधिकार जो वे देते हैं, यही परम उपलब्धि है।

प्रभु जैसा करें, वैसा ही होगा। उनकी शरणागत होना ही जीवन का प्रमुख कर्तव्य है। प्रभु तुम्हें आश्रय दें। उन्हीं के श्रीचरणों में शान्ति है, अन्यत्र नहीं ।

* सुखपूर्वक कौन सोता है ?—समाधिवान व्यक्ति (शंकराचार्यकृत मणिरत्न-माला-४)

† शिवमानसपूजा-स्तोत्र-४

—८—

बन्धन आदि बाहर नहीं हैं, सब भीतर ही हैं। अपने मन के बन्धन भ्रान्तिवश बाहर प्रतिभात होते हैं। पुण्य कर्मों के फल तथा भगवत्कृपा से मन जब निर्मल होता है, तब यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ जाती है। परन्तु समझ में आ जाय तो भी बन्धनमुक्त होना इतना सहज नहीं है। गुरुकृपा तथा निष्ठापूर्वक प्रयत्न करने पर ही बन्धन से मुक्ति होती है। अस्तु। तुम लोग निःसन्देह भाग्यशाली हो। संसार की अनित्यतता को समझकर तुम लोगों ने जो सर्वस्व त्याग दिया है, यही तुम्हारे सौभाग्य का परिचायक है।

कर्म तो करना ही होगा, अन्यथा चित्तशुद्धि कैसे होगी ? कर्मक्षेत्र में ही तो अपनी परीक्षा होगी ! मेरे मन में फल की कितनी आशा है और कितना निष्काम हुआ हूँ, स्वार्थरता कितनी घटी है और कितनी बची है—यह सब जानने का कर्म ही एकमात्र उपाय है। जब हृदय में प्रेम का संचार होगा तो कर्म में कर्मबोध नहीं रह जाएगा। कर्म तब पूजा का रूप ले लेगा। यही सच्ची भक्ति है। प्रारम्भ में साधन-भजन और कर्म दोनों ही करना होगा, पर हाँ, लक्ष्य को स्थिर बनाये रखकर। बाद में प्रभु की कृपा से ऐसा समय भी आयेगा, जब साधना और कर्म में भेदबुद्धि का लोप हो जाएगा। तब सबकुछ साधना में परिणत हो जाएगा, क्योंकि प्रभु तो सबमें ओतप्रोत हैं।

अपने आपको दुर्बल मत समझना। स्वयं दुर्बल होने पर भी तुमने जिनकी शरण ली है, वे सर्वशक्तिमान हैं। अतः अपने को उनका ही मानकर बलवान समझना। उनके

अतिरिक्त कोई भी अपना नहीं है—यह धारणा दृढ़ होने पर हृदय में महाबल का संचार होगा।

—९—

भगवान की प्राप्ति के लिए व्याकुलता अत्यन्त आवश्यक और उत्तम है, तो भी चित्तवृत्तियाँ अब तक शान्त नहीं हुईं ऐसा सोचकर उतावले होना या निराशा को प्रश्रय देना उचित नहीं। उनकी बाट जोहते हुए भी अपने-आपको धन्य समझना चाहिए। वे संसार से निकाल लाकर जो अपना भजन करवा रहे हैं, यह क्या उनकी कम दया है? अब चित्तवृत्तियाँ शान्त करना या न करना उनके हाथ में है, भजन करा रहे है—इतना ही काफी है। प्रार्थना करो कि वे तुम्हें अपने भजन में लगाये रखें—चित्तशान्ति के लिए प्रार्थना क्यों करोगे?

ठाकुर खानदानी किसान होने को कहा करते थे। खानदानी किसान बाढ़ या सूखे की परवाह किये बिना खेती किये जाता है। खेती के अतिरिक्त वह और कुछ नहीं करता। उसी प्रकार तुम भी प्रभु का भजन किये जाओ और अपने को कृतार्थ समझो। सुख-दुःख, शान्ति-अशान्ति सब उनके चरणों में डाल दो। वे जैसे भी रखें, स्वीकार करो। वे अपना भजन कराते रहें यही प्रार्थना करना सीखो; इससे अपने आप शान्ति आयेगी। शान्ति के लिए प्रार्थना करने की आवश्यकता न होगी। केवल भजन के लिए ही प्रार्थना करना। भगवान क्या साग-भाजी हैं, जो पैसे देकर खरीद लोगे? उनको पाने के लिए साधना की क्या कोई बँधी-बँधाई लीक है कि ऐसा ऐसा करने पर वे मिल जायेंगे? केवल उनकी राह देखते उनके द्वार पर पड़े रहो—इतना कर पाना ही यथेष्ट है।

उनकी दया अपने आप होती है। नाक दबाने या किसी अन्य साधन के द्वारा कोई भी उन्हें नहीं पाता। जिस किसी को भी वे मिले हैं, अपनी दया से ही मिले हैं। यदि वे द्वार पर पड़ा रहने दें, तो इसी में उनकी असीम कृपा समझना। साधन-भजन और है क्या ? बस, मन-मुख एक करके उन्हें पुकारते जाना। भीतर एक भाव और बाहर दूसरा भाव कदापि न रखना। आवश्यकता होने पर अन्य साधन वे स्वयं ही करा लेंगे।

—१०—

भगवान में आत्मसमर्पण कर पाने से ही सारी झंझटें दूर होती हैं और तभी मनुष्य निश्चिन्त हो सकता है। इसी की प्राप्ति के लिए मनष्य को अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ प्रयास करना चाहिए। तभी प्रभु की कृपा होती है जिसे पाकर मनुष्य धन्य हो जाता है। उनके द्वार पर कृपा-भिखारी होकर पड़े रहना उचित है और ऐसा कर पाने पर निःसन्देह हमारे सारे मनोरथ पूर्ण होंगे।

पूरे मन-प्राण से उन्हें प्रेम कर पाने पर अन्य किसी भी साधना की आवश्यकता नहीं। 'प्रीतिः परमसाधनम्'— यह पूर्णतः सत्य है। उन्हें प्रेम कर पाने से अपने आप ही सबके प्रति प्रेम का उदय होता है। हृदय में प्रेम का संचार हो जाने पर फिर बाकी क्या रहा ? अतः तन, मन और वचन के द्वारा भगवान से प्रेम करने का प्रयत्न करना चाहिए।

—११—

लगता है तुम मेरे पिछले पत्र का मर्म ग्रहण नहीं कर सके। मेरा तात्पर्य यह नहीं था कि कोई भी साधना मत करना, बल्कि यह था कि भगवान साधन-साध्य नहीं

हैं, उनकी कृपा से ही उन्हें पाया जा सकता है——यही समस्त शास्त्रों तथा सभी महात्माओं का सिद्धान्त है। दूसरे शब्दों में मैं यह बताना चाहता था कि साधना का अहंकार कहीं मन में आकर घर न बना ले, इसके लिए प्रयास करना और पूर्णरूप से उन्हीं पर निर्भर रहना। इस आशंका को मन से निकाल डालो कि चित्त अशान्त होकर कहीं उनके पथ से विचलित न हो जाए। ठाकुर कहा करते थे, "जितना ही तुम पूर्व की ओर आगे बढ़ोगे, पश्चिम उतना ही पीछे छूटता चला जाएगा।" भजन में जितना ही मनोयोग करोगे अन्य भाव उतने ही दूर होते चले जाएँगे। जो विपत्ति उपस्थित नहीं, उसे कल्पना के द्वारा बुला लाने की क्या जरूरत? मृत्यु अवश्यम्भावी है, इस कारण डरकर क्या कोई आत्महत्या कर लेता है? बाद में कहीं कोई विघ्न न आ पड़े, ऐसी चिन्ता से हानि के अलावे कोई लाभ नहीं होने वाला है। विश्वास रखना कि जब मैंने भगवान की शरण ली है, तो मेरी विघ्न-विपत्तियाँ सब दूर हो जाएँगी। मेरे ऊपर भला कौन सी आपदा आ सकती है? साधक सबल हो अथवा दुर्बल, निर्भरता के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं। मैं तो बस इतना ही जानता हूँ, इसके अतिरिक्त यदि तुम कुछ और जानते हो, तो आजमाकर देख सकते हो।

भगवान की ओर एक पग भी आगे बढ़ने पर वे दस कदम आते हैं——यही बात मैंने आजीवन सुनी है और जीवन में इसका थोड़ा-बहुत अनुभव भी किया है। भगवान अन्तर्यामी हैं, वे सब कुछ समझते और जानते हैं——इस विश्वास के बिना साधन-भजन कैसे करोगे? उन्हें पाने के लिए चित्त खूब अशान्त हो, पर ध्यान रखना कि

वह किसी और आशा में चंचल न हो। खानदानी किसान खेतों के द्वारा ही अपना गुजर-बसर करता है, अन्य व्यवसाय करने नहीं जाता ।

"माँ श्यामा ! बोल और किसे पुकारूँ ! बच्चा तो केवल माँ को ही पुकारता है। मैं कोई ऐसी माँ की सन्तान थोड़े ही हूँ जो जिस-तिस को माँ कहूँगा। माँ यदि पुत्र को पीटती है, तो भी शिशु 'माँ' 'माँ' कहकर ही रोता है। गला पकड़कर ढकेलने पर भी वह 'माँ' 'माँ' की ही टेर लगाये रहता है।" * यही भाव मेरे मन को भाता है। तुमने पूछा है कि प्रभु का भजन किये जाना क्या मनुष्य की अपनी इच्छा पर निर्भर है ? मेरा उत्तर है—कुछ भी मानव की इच्छा के अधीन नहीं है, यह बात समझ में आ जाने पर निर्भरता और कृपा के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं रह जाता । पाल उठाने का मतलब है केवल भजन किये जाना । मन यदि उनकी ओर उन्मुख न होना चाहे तो उसके कान उमेठना या और भी कठोर दण्ड देना । अभ्यास का अर्थ है—चित्त में निरन्तर एक ही भाव बनाये रखने का प्रयास करना । यह अभ्यास श्रद्धा और प्रेमपूर्वक करना चाहिए । निर्जनवास के द्वारा अपने मन की पहचान होती है, जिससे उपयुक्त उपाय चुनने में सुविधा हो जाती है। संन्यास का अर्थ है—उन्हीं में पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण। भीतर एक और बाहर दूसरा भाव नहीं रहना चाहिए । यही जीवन का परम उद्देश्य है।

(क्रमशः)

○

* एक बंगला भजन का भावार्थ

रामकृष्ण मिशन के वार्षिक प्रतिवेदन का सार-संक्षेप

रामकृष्ण मिशन का ८१वाँ वार्षिक साधारण सम्मेलन बेलुड़ मठ में रविवार, २३ दिसम्बर १९९० को अपरान्ह ३.३० बजे सम्पन्न हुआ। रामकृष्ण मिशन के महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने इस सम्मेलन की अध्यक्षता की। मिशन के सदस्यों के समक्ष पेश किये गये शासी-निकाय के रिपोर्ट (१९८९-९०) का सार-संक्षेप निम्नलिखित है :

इस वर्ष के महत्वपूर्ण विकास कार्यों में, ब्रेल भाषा में पुस्तक प्रकाशित करने के लिए कोयम्बटूर केन्द्र में कम्प्यूटरीकृत मुद्रण-यूनिट की स्थापना, ग्रामीण युवकों को प्रशिक्षण-सुविधा प्रदान करने हेतु कामारपुकुर में लघु जूट मिल का उद्घाटन तथा विवेकनगर (त्रिपुरा) एवं टोरन्टो (कनाडा) में नये शाखा-केन्द्र खोला जाना विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

राहत-कार्य : आलोच्य वर्ष में रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन ने २९.३३ लाख रुपये खर्च करके वृहत् पैमाने पर राहत एवं पुनर्वास के कार्य किये। इसके अतिरिक्त ६.१९ लाख रुपये मूल्य की सामग्री दुर्दशाग्रस्त लोगों के बीच वितरित की गयीं।

कल्याण-कार्य : निर्धन छात्रों, रोगियों तथा वृद्ध एवं नि:सहाय नर-नारियों को मदद पहुँचाने के मद में मिशन ने ४२.५४ लाख रुपये की राशि व्यय की।

चिकित्सा-कार्य : रामकृष्ण मिशन ने अपने ९ अस्पतालों एवं चल-चिकित्सालयों सहित ८० डिस्पेन्सरियों के द्वारा सराहनीय

चिकित्सा-कार्य किया। करीब ६.५० करोड़ रुपये व्यय करके लाख से अधिक रोगियों की सेवा की गयी।

शैक्षणिक कार्य : हमारे शिक्षण संस्थानों के परीक्षा-फल पूर्ववत् ही बहुत अच्छे रहे। मिशन ने १५६१ शिक्षण संस्थानों का संचाल किया, जिनमें शिक्षार्थियों की कुल संख्या १,३२,८३१ थी। इ कार्य में मिशन ने २१.३२ करोड़ रुपये की राशि व्यय की।

ग्रामीण एवं जनजाति कल्याण-कार्य : २.२२ करोड़ रुप करके मिशन ने देश के कई ग्रामीण एवं जनजाति इलाकों मे पैमाने पर कार्य किये।

विदेशों में कार्य : हमारे विदेश-स्थित केन्द्र मुख्यत: ध के कार्य में संलग्न रहे।

देश एवं विदेशों में, प्रधान केन्द्र के अतिरिक्त रामकृष्ण एवं रामकृष्ण मठ के क्रमश: ७७ एवं ७५ शाखा-केन्द्र थे।

स्वामी गहन

महा

○